

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180058

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83.1
K 15 R.

Accession No. H 3101

Author कमेलेखर.

Title राजा निरवोसिया और कमेलेखर की
अन्य कहानियाँ. 1957.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

राजा निरबंसिया

और कमलेश्वर की अन्य कहानियाँ

राजा निरसंशिया

और कमलेश्वर की अन्य कहानियाँ

राजकमल
प्रकाशन प्राइवेट लि.
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई पटना मद्रास

प्रथम संस्करण

फ़रवरी १९५७

प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद

मुद्रक: भार्गव प्रेस, इलाहाबाद

सर्वाधिकार लेखक के आधीन

मूल्य ढाई रुपये

भूमिका

कभी आपने ज्वालामुखी के शिखर पर बैठे हुए व्यक्तियों की कल्पना की हो, उनके अन्तर्द्वन्द और मानसिक स्थितियों के अध्ययन की चेष्टा की हो और ऐसा सोचा हो कि इन्हें किस प्रकार विस्फोटों की वह्नि से बचाकर जीवन का मन्त्र दिया जाय तो नयी कहानी का धरातल और नये कहानीकारों की प्रवृत्तियाँ सहज ही आपके सामने स्पष्ट हो उठेंगी ।

कथानक, शैली और शिल्प को चुनने की अभिरुचि में, उनमें चाहे कितना भी वैभिन्न्य हो (और वह है) किन्तु मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नवनिर्माण की जितनी उत्कट प्यास इस पीढ़ी के कहानीकारों में है वह पिछले दौर में नहीं थी । आज के हर कहानीकार में कुछ कहने के लिए एक अजब-सी अकुलाहट और बेबसी है, जो निश्चय ही इस संक्रान्तिकाल की देन है जिसने एक ओर यदि हमारी संवेद्य शक्तियों पर दबाव डाला है तो दूसरी ओर हमारी चेतना को भी जागरित किया है । इसलिए हम देखते हैं कि आज की कहानियाँ कल्पना के पंखों पर नहीं उड़ती बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक ज़िन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध है । धरती के हर कण-कण के प्रति लगाव, हर मोड़ के प्रति जिज्ञासु भाव और गड्ढे को पाट देने की सहानुभूति पूर्ण विह्वलता उनमें है ।

आज की कहानियों का रूप बहुत बदल गया है । इसलिए उनका

मापदण्ड भी बदलना पड़ेगा। उनकी सफलता या असफलता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि वे किस हद तक किसका मनोरंजन करती हैं बल्कि यह होगी कि, वे मनुष्य की शील-संवेदनाओं को कहाँ तक झुझोड़ती, छूती और उकसाती हैं। केवल सोद्देश्यता की पृष्ठभूमि में ही आज के लेखक की कहानियों का अध्ययन किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह स्वयं आत्म-ग्रन्थियों का चित्रण या विश्लेषण सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में करता है।

मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं कि हिन्दी आलोचकों ने आज के कहानी साहित्य का समुचित अध्ययन नहीं किया, अतः नयी कहानी के वैशिष्ट्य और नयेपन को पकड़ पाने में वे असफल रहे हैं। इसीलिए कहानियों की आलोचना करते हुए आज भी बहुत से आलोचकों के मुँह से सुन पड़ता है कि कहानी अभी प्रेमचन्द और जैनेन्द्र से आगे नहीं गयी। मेरा विनम्र निवेदन इसी सम्बन्ध में है कि आज की कहानियाँ चाहे अपनी परिभाषा में उतनी 'सम्पूर्ण' न हों किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति, शिल्प कौशल और भाषा की व्यञ्जना शक्ति का उनमें निश्चित विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त नयी कहानी की एक और भी उपलब्धि है—नयी भावभूमियों का सृजन!

बस। अपनी इन कहानियों के विषय में तो केवल इतना ही कहूँगा कि इनके लिए मैं उस छोटे से कस्बे मैनपुरी का आभारी हूँ, जहाँ जन्मा और पलकर बड़ा हुआ और जहाँ का धूल-धक्कड़ और ज़िन्दगी के कोलाहल से भरापुरा, उदास किन्तु मोहक वातावरण मेरी अनुभूतियों को नये-नये रंगों में रंगता रहता है।

३४७, बादशाहीमण्डी
इलाहाबाद-३

—कमलेश्वर

✓ १. देवा की माँ	:	६
२. पानी की तस्वीर	:	२७
३. धूल उड़ जाती है	:	४५
४. सुबह का सपना	:	६१
५. मुद्दों की दुनिया	:	६६
६. आत्मा की आवाज़	:	८५
७. राजा निरबंसिया	:	९५

देवा की माँ

उसकी माँ दरियाँ बुनती थी और वह बेकार था। दरियाँ बुनने का भी कोई ऐसा बँधा हुआ सिलसिला नहीं था, जिसे काम कहा जा सके। कभी कोई अपनी ज़रूरत से बुनवा लेता और कभी बेज़रूरत भी—उसे काम देने की नीयत से दे देता, या बरसों का कोई गद्दा लिहाफ़ जब जवाब दे जाता, उपल्ला और अस्तर फट जाता और बदरंग नामा भीतर से भौंकने लगता, तो उसे काम में ले आने का एक यही तरीका था कि उसे देवा की अम्मा को दे दिया जाय और वह महीने-दो महीने में दरी बुनकर दे जाय। मेहनत-मजूरी का दाम धीरे-धीरे पटता रहता, क्योंकि कोई धन्धा तो था नहीं कि इस हाथ ले उस हाथ दे। यही क्या कम था कि ज़रूरत पड़ने पर उसे कहीं-न-कहीं से पैसे मिल ही जाते।

यहाँ के ये सारे परिवार एक-दूसरे से बेतरह जलते थे, कुदते थे; पर वक्त की मार ने उनकी ज़बानों को कुन्द कर रखा था, हर एक की बेब्रसी ने एक अनदेखे धागे में बड़े ही आश्चर्यजनक रूप में उन्हें बाँध रखा था, जिसका कोई सिरा नज़र नहीं आता था। यही वजह थी कि जवान होते हुए भी, देवा के बेकार रहने को, लोगों ने बड़ी निस्संग स्वाभाविकता से स्वीकार कर लिया था।

देवा जब अपने चारों ओर नज़र घुमाता तो उसे यह सब खलता । खुद अपनी माँ की बेईमानी चुभती, जो दरियों के लिए रूहड़ लेते वक्त पन्सेरी पर आधा सेर ज़्यादा लेने की नोयत से, मैल के एवज़ में साढ़े पाँच सेर के लिए भगड़ती, और इस तरह आधा सेर रूई बचा-बचा कर आठ-दस दरियों के बाद, एक अपनी निजी दरी बनाकर बेच लेती । वह अपने चारों तरफ़ जब लोगों को देखता तो उसे लगता कि उनके चेहरे एकदम एक-से हैं, जिन पर नफ़रत, प्यार, प्रशंसा या निन्दा—कुछ भी तो नहीं उभरती । अजीब-सी एकरसता थी, जैसे सब शंकर से योगी हैं, जो विष पी-पीकर स्थिर से बैठे हैं, आँखें मूँदे !

इसीलिए वह घर से भागा-भागा रहता । मौलवी साहब के अस्तबल में लगे शास्त्री के छापाखाने में बैठा रहता, वहाँ की एकरस आवाज़ से जब मन ऊबता तो ठाकुर की इमली के नीचे वाले चबूतरे की महफ़िल में पहुँच जाता । कस्बे भर की सनसनीपूर्ण खबरें उसे शास्त्री के छापाखाने में मिलती रहतीं और सरकार के कारनामों की सूचनाएँ ठाकुर की महफ़िल में जमा होने वाले बेसिक और नार्मल स्कूल के अध्यापकों और पण्डितों से मिलतीं । इन दोनों ही जगह उसे ऐसे आदमी दिखायी पड़ते थे जो अपनी बातों और अपने स्वार्थों से अलग से होकर आस-पास और दूर-दूर के सुख-दुख और संघर्ष के प्रति निन्दा दिखायी पड़ते थे....यहाँ आकर जैसे वह अपने को भुला बैठता और बहुतों की पाँत में शामिल हो जाता । इसीलिए कभी-कभी अनचाहे—बिना सोचे, उसे देर हो जाती । सुबह से आ जमता तो बातों में वक्त का अन्दाज़ न रहता । दोपहर चढ़े जब घर पहुँचता तो दिल छोटा होने लगता, ख़याल आता—इतना वक्त बेकार बरबाद कर दिया, इससे अच्छा होता कि अम्मा के काम में हाथ बँटाता, और कुछ न सही तो रूहड़ ही नोचता, जिससे धुनकने के लिए डाली जा सकती या सूत की लच्छियाँ ही बनाता, जिससे रंगने में आसानी होती । घर में घुसता,

बरामदे में ही अड़्डा सजा होता, सूत का जाल पुरा होता और रंगीन सूत की पिंडियाँ इधर-उधर लुढ़कती होतीं, कसने वाला हत्था एक ओर पड़ा होता और अम्मा बैठी सूत कातती होती या रूहड़ नोचती होती। आहट सुनकर बिना उसकी ओर देखे उठती और कोठरी में घुस जाती। डिबिया में से लम्बी जंजीर वाली घड़ी निकालती, घड़ी हथेली पर रखती तो जंजीर हथेली के उस पार भूल जाती; उसे कुछ क्षण देखती.... एकटक....जैसे सुइयों की गिनती पढ़ने में उसे कुछ याद आता हो....

और तभी देवा का मन भर आता, अपनी बेपरवाही और उदासीनता पर पश्चात्ताप होता। सोचता, आखिर माँ भी तो घर में अकेली पड़ी रहती है, कहीं आती-जाती नहीं। क्या उसका दिल नहीं भटकता होगा ? फिर माँ पर कुछ मुँहलाहट भी होती कि ये कुछ बोलती क्यों नहीं, देर से आने पर डाँटती क्यों नहीं, कुछ पूछती क्यों नहीं ? पर वह नहीं पूछती। जैसे सब स्वीकार कर लिया हो। लेकिन तभी उसे लगता कि वह कितने पीड़ित मौन से सब-कुछ पूछ लेती है। जब कोठरी में घड़ी देखने जाती है, तो शायद वह अपने से ही उत्तर माँगती है कि देवा अब तक कहाँ रहा ? और फिर उसके बाद सुइयों पर नज़र गड़ा कर कुछ कहती है कि देखो तुम्हारा देवा कैसा हो गया....मेरा कुछ भी खयाल नहीं रखता, क्या इसकी उम्मीद भी छोड़ दूँ ?

और तब देवा की आँखें नम हो जातीं, वह अपने को सारी बातों का ज़िम्मेदार पाता। उसे पिता की याद आती, जिसे उसने देखा तो था पर कभी महसूस नहीं किया।

माँ कोठरी से निकलती, आसन बिछाती और खाना परोस कर देवा को आवाज़ देती, “आ देबू, जरा पानी रख ले दो गिलास....”

तब देवा को पता चलता कि माँ भी बिना खाये बैठी रही है, कहता, “अम्मा तुम खा लेती न, मैं जरा मास्टरजी के पास गया था। उनके हाथ में पचास-साठ की नौकरी तो रहती ही है। शायद अब

से स्कूल खुलने पर कुछ खयाल कर लें....”पर झूठ बोलते उसे कुछ न लगता, कह चुकने के बाद माँ के चेहरे की स्थिरता जैसे उसे धिक्कारती और वह अपने में सिमट जाता....माँ धीरे से मुस्करा देती और कहती, “रामलाल की एक दरी बनानी है, सूत तो तैयार है, तू कल रंगरेज से रँगवा दे, झटपट निबटा लूँ....”

“अम्मा घर पर जो रंग लें, बाज़ार में बहुत दाम पड़ते हैं।”

“पक्का रंग तो घर पर मैं तैयार कर लूँ, पर कुटाई नहीं होती, और बिना कूटे रंग नहीं चढ़ता, मेरा तो कन्धा बेकार है, नहीं तो....”

“अरे कुटाई मैं करूँगा....कल तुम आँट कर रंग बना देना, फिर सब मेरा काम....”

और दूसरे दिन देवा जब उठता तो खुद जाकर चूल्हा सुलगाता और कहता, “अम्मा, पहले रंग आँट लो, फिर बैठा मैं कूटता रहूँगा तब तक तुम खाना बना लेना....”

माँ पतीला चढ़ा देती, रंग की पुड़िया चूल्हे के पास लाकर रख लेती और पटा डालकर बैठ जाती तो देवा देखता—कुछ देर तो लगेगी ही, जरा बाहर निकलता, फिर आकर भाँक जाता कि अब माँ ने पानी में रंग डाला या नहीं। फिर निकल जाता और निकलता तो निकल ही जाता। जब वापस आता तो धूप चढ़ आयी होती, दोपहरी तपती होती और माँ पटिया पर सूत रखे, हाँफते-हाँफते कूटती होती। बालों की लटें रूखी-सी झूलती होतीं, बाहों की नसें सूत-सी उभर आतीं और उसके हाथ रंग से बदरंग होते। माँ आँट सुनती तो लच्छियों को तार पर फैलाकर कोठरी में घुस जाती।

इसी तरह दिन बीतते जाते और देवा को कभी यह महसूस भी न हो पाता कि आखिर यह सब कैसे चलता जाता है। माँ किन खयालों

में हूबी रहती है और क्या सोचती रहती है, और न वह पूछ ही पाता, क्योंकि जब भी पूछने का अवसर आता तो वह घड़ी और उसकी सोने की जंजीर बीच में आ जाती। माँ उदास दिखायी पड़ती और वह स्वयं अपने प्रति असन्तोष से पछताता होता। यदि वह कोशिश भी करता तो साहस न पड़ता....क्योंकि उस घड़ी और उसकी सोने की जंजीर से उसके पिता का इतिहास जुड़ा था, जो कहीं स्टेशन-मास्टर थे और वर्षों से दूसरी शादी करके अपने बाल-बच्चों के साथ रह रहे थे। उसने सिर्फ इतना सुना था कि पाँच वर्ष पहले वे कुछ घंटों के लिए माँ से मिलने आये थे। तब दूसरी शादी कर चुके थे। माँ ने कहीं से उधार लाकर उनके लिए खाना बनाया था, पर उन्होंने खाया नहीं था। उस वक्त पड़ोस की औरतों ने माँ से कहा था कि अपनी और देवा की परवरिश के लिए कुछ माहवार तै कर लेना चाहिए, पर माँ ने वह बात ही नहीं उठायी। चलते वक्त पिता ने माँ से कहा था कि घड़ी की ज़रूरत पड़ जाती है कभी-कभी, उसे दे दो तो लेता जाऊँ। तो माँ ने जवाब दिया था कि यही एक चीज़ पास रह गयी है जो देवा को भी उसके वक्त का ज्ञान कराती रहती है। हाँ, यदि सोने की जंजीर की ज़रूरत हो तो वह ले लें। पर पिता ने बात खुल जाने के कारण और घड़ी माँगने के पीछे जंजीर की असली खाहिश ज़ाहिर होने के कारण, आगे बात नहीं बढ़ायी थी और चले गये थे।

उनके जाने के बाद बगल के मकान की बूढ़ी बातों का पता लगाने आयी थी, क्योंकि उस दिन सभी घरों में यही चर्चा थी.... पीछे-पीछे देवा की माँ की बुराइयों भी बड़ी ईमानदारी से बयान की जा रही थीं और उससे भी ज्यादा ईमानदारी और चिन्ता से उसकी सहनशक्ति, सन्तोष और मुसीबतों को दोहराया जा रहा था। वृद्धा

आकर वहाँ बैठी और उसने पूछा था, “क्यों देबू की माँ, बात-चीत का कैसा रवैया था उनका ?”

“वैसा ही था चाची, सचमुच कोई फरक नहीं था....मैं तो समझती थी कि पता नहीं कैसे पेश आये, पर सुभाव नहीं बदला। तन से तो एकदम बदल गये हैं। मैं तो पहली नजर में पहचान नहीं पायी, अभी से सामने के दो दाँत बदलवाने पड़ गये हैं....”

“अच्छा, बात क्या-क्या हुई ? तुम्हारी बातों का क्या जवाब दिया ?”

“मैं तो उन्हीं की सुनती रही चाची, बीच-बीच में खामोश हो जाते थे, लगता था कि अपने किये पर उन्हें दुख हो रहा है, ऐसे में क्या कुरेदती ! कह रहे थे, मन नहीं जमता कहीं। बड़ी देर तक समझाते रहे थे कि क्या-क्या सोच रहे हैं। फिक्रों से परेशान थे.... चलते वक्त घड़ी मुझसे जरूर माँगी थी, सो मुझसे देते न बनी....पता नहीं कैसा मोह हो गया है उससे....”

“तो उनकी ये सब फिक्रें और दुख सिर्फ घड़ों के लिए ही था, उसकी जंजीर तो सोने की है न !” बूढ़ी ने निष्कर्ष निकालते हुए कहा था।

“सो नहीं चाची, उन्हें लेना ही होता तो क्या मैं इनकार कर पाती ! मैंने कहा था कि चाहे तो जंजीर लेते जायँ, पर उन्होंने फिर उसकी बात ही नहीं की।”

“हिम्मत नहीं पड़ी होगी, नहीं तो अब वे तुम्हें क्या समझते होंगे....”

“ऐसी बात नहीं चाची, उनमें ये सब बातें थी ही नहीं....आदमी में वैसे भी खोट नहीं होती, उसे कुरस्ता तो औरत ही डालती है। मैं तो घर रहती थी, ये खूटियों पर दौड़ते रहते थे, महीनों बाद आना होता था। वहीं वह मिल गयी और उसने बहका दिया। औरत चाहे

तो अच्छे-भले आदमी को उलझाते कितनी देर लगती है ! अगर उन्होंने यह सब समझ-बुझकर ही किया होता तो भला यहाँ आते ? और असल बात यह थी चाची कि मैं उनसे घुलमिल ही नहीं पायी थी । ससुराल में रहते घर की भीड़-भाड़ और हया-शरम में कभी अपनेपन की बात ही नहीं कर पायी । उन्होंने मुझे जाना ही नहीं और अनजान में जो कर बैठे वह तो हो ही गया....”

“अरे ऐसे सोचने से काम नहीं चलता, सब ऊँच-नीच देखा करो देबू की अम्मा ! आदमी इतने सीधे नहीं होते । हर बात के पीछे मतलब होता है इनका....तुम्हें अपनी परवरिश की बात चलानी थी....” बूढ़ी ने बात काँतार फिर पकड़ते हुए कहा ।

“कहा तो, क्या चलाती....मैं तो सन्तोष किये बैठी हूँ । दो-तीन साल की और देर है, तब तक देबू करने-धरने लायक हुआ जाता है । काहे को कहीं मुँह डालूँ ? देवा की फिक्र थी उन्हें भी, कह रहे थे, वैसे तो अपने पास बुला लेता, पर मेरा भी लगकर रहना नहीं हो पाता, इसीलिए सोचता हूँ, जैसा वहाँ तैसा यहाँ । अगर रहे तो मेरी निगाह के सामने रहे, नहीं तो तुमसे अच्छा और कौन होगा उसके लिए । उसके लिए बड़ी हिदायतें देते रहे थे । कहते थे ‘तुम्हीं से सब कुछ सीखेगा । आजकल लड़कों को हवा लग जाती है । तुम्हारा डर-खौफ अगर उसके ऊपर से उठ गया तो बिगड़ जायगा । अपने को सँभाले रहना, जिस घर में जन्मी हो उसका ध्यान रखना । बड़ी ऊँची शान रही है तुम्हारे बाबू जी की....’ देवा स्कूल से आ ही नहीं पाया था....”

बूढ़ी थोड़ी देर बाद उठकर चली गयी थी ।

तब से देवा पर उसकी नज़रें और भी सतर्कता और प्यार से जम गयी थीं । वह देवा को पेट काट-काट कर पढ़ाती रही, और जब

वह पढ़-लिख कर बेकार बंठ गया, तब भा वह उसे उसी तरह देखती रही। उसके इधर-उधर बैठने को सतर्क नज़रों से निहारती रही और जब-जब देर से लौटने पर वह झूठ बोल कर अपने को भुलावा देता रहा तो उसके उस भ्रम को तोड़ने की उसने कभी कोशिश न की। आखिर उसके भ्रम को तोड़कर वह कौन-सी सच्चायी उसे दिखा सकती थी ? इस बात को वह खूब जानती थी।

एक रोज जब वह घर लौटा था तो हमेशा की तरह देर हो गयी थी। उस रोज उसके साथ एक आदमी और था, जिसकी साइकिल के पीछे किताबों का ढेर बँधा था और सामने हैन्डिल पर लटके झोलों में अखबार भरे थे। उस आदमी की आँखों में एक अजीब-सा विश्वास था, और उसके चेहरे पर भ्रम की गुरुता की कठोरता थी। देवा दरवाजे पर खड़ा-खड़ा कुछ देर उससे बातें करता रहा और जब भीतर आया था तो उसको बातों में द्विविधा या भिन्नता नहीं थी। जैसे मन का गुबार एकदम बाहर छोड़ आया हो और अपनी सार्थकता का अनुभव करने लगा हो, आकर बोला था, “अम्मा, तुम खा लिया करो। मेरे इन्तज़ार में बैठा रहना ठीक नहीं। मेरा तो पैर निकल गया है....”

सुनकर माँ को ऐसा लगा था कि मन में आज तक जो टूटन थी वह शायद भर रही है, पर उसे कुछ दुख भी हुआ था कि कहीं देवा उसकी तरफ से एकदम बेपरवाह न हो जाय। वह दिन-दिन भर वहशियों की तरह घूमता और रात गये देर तक कुप्पी के प्रकाश में न जाने क्या-क्या पढ़ता। अब देर से आने पर उसे संकोच न होता तो माँ के दिल पर घूँसा-सा लगता। उसे चिढ़ भी होती, दुख भी होता, और एक अजीब अव्यक्त-सं-सुख भी मिलता। उसे लगता कि देवा कुछ अच्छा कर रहा है, पर यह अपनी तरफ से बेपरवाही भी बुरी है।

एक दिन उसे पता लगा था कि देवा राजनीतिक आदमियों के

राजा निरबसिन्हा

साथ उठने-बैठने लगा है, उनके साथ भोला डाले इधर-उधर घूमता रहता है। अब वह अपने बारे में या घर के बारे में उतना चिन्तित नहीं है जितना कहीं दूर बैठे लोगों या शहर के दूसरे लोगों के लिए है। कभी-कभी रात को भी बाहर रह जाता। मकानों में देवा की चर्चा होती कि वह अखबार बेचने लगा है। नीच आदमियों की तरह घर-घर भँकता फिरता है और चार पैसे का अखबार पहुँचाता है। चर्चा अगर बुराइयों पर चल पड़ी तो देवा और उसकी माँ को एकदम काला करार दे दिया जाता और कभी अच्छाइयों पर मुड़ गयी तो उसकी जीवनी शक्ति के सामने सब सिर झुका देते।

और वह सोचती....देवा भी सपनों में उलझा जा रहा है। उसमें जो आग सुलगी है, जो स्थिरता आयी है, वह उसे शक्ति देगी; पर वह दीन-दुनिया की नंगी बातें करता है, उसकी बातों में कच्चापन है, पर बचपना नहीं और माँ को लगता कि देवा अब निपट अकेला नहीं है, वह बहुतों से अनदेखे रूप में जुड़ गया है....

पर यह बात भी उसके दिल में बहुत नहीं जमती, आखिर इससे होना क्या है ? इसलिए सोचते-सोचते बात मुँह से निकल ही पड़ी। देवा अखबार बाँटकर आया था। माँ ने खाते वक्त उससे कहा था, “देबू, तुम्हारा यह अखबार बेचना अच्छा नहीं लगता....”

देवा चुप ही रहा था। जब खाना खाकर चलने लगा तो माँ ने रोककर कहा, “यह पाँच सेर सूत लेते जाओ, सामने तुलवा कर देना, जब आना तब रंगवा कर लेते आना....”

देवा ने सुना और एक भोले में सूत भर लिया। पूछा, “कौन से रंग में रंगेगा ?”

“चार सेर नीला और एक सेर पीला, बाडर के लिए।”

चलते-चलते उसे याद आया तो बोला, “अम्मा मुझे समय नहीं मिलेगा, तुम मेरा कुरता जरा धोकर डाल देना, इस्तरी मैं कर लूँगा....

कल के लिए कोई कुरता नहीं है।” अम्मा ने हूँ की ओर वह चला गया।

माँ ने कुरते को साबुन से धोकर, कलफ़ और नील लगाया, तार पर फैलाया और इन्तज़ार किया, पर देवा नहीं आया। खाना बनाकर बैठी रही, पर वह नहीं लौटा। रात आयी और चली गयी लेकिन देवा के वापस आते पैरों की आहट नहीं सुनायी पड़ी। तुलसी के बिरबे के ऊपर बँधी अलगनी पर उसका कुरता सूखकर सिकुड़ गया, पर वह नहीं लौटा। माँ की आँखों से नींद उड़कर उसे खोजती रही लेकिन किसी सूने पहर में भी वह वापस नहीं आया। और माँ ने यह भी स्वीकार कर लिया। अलगनी से कुरता उतार कर, तह कर बक्स में रख दिया। पता नहीं किस वक्त आकर माँग बैठे।

तीसरे रोज पण्डित अपनी दरी माँगने जरूर आये। तब उसने यही कहा था, “छै सात दिन में पहुँचा दूँगी। देवा को सूत रंगने के लिए दे दिया था, पता नहीं किस रंगरेज के यहाँ डाल आया है। देवा कल-परसों बाहर से वापस आ जायगा तो दो-चार दिन में बिन के मैं खुद दे आऊँगी, परेशान न हों।”

“कल-परसों देवा वापस आ जायगा ? कहाँ की कह के गया है ? वह साल भर से पहले नहीं आता, गिरफ्तारी हुई है कि मजाक है....”

“गिरफ्तारी....” माँ ने सन्न होकर कहा था।

“आन्दोलन किया है तो सजा भुगतनी ही पड़ेगी....”

सुनकर माँ ने खामोशी साध ली थी। बस इतना भर कहा कि दरी पहुँच जायगी, जैसे भी होगी।

गली में यह बात फैल गयी थी कि देवा जेल चला गया है, यहाँ से कुछ लोगों के साथ वह करहल तहसील गया था, वहाँ गिरफ्तार हो गया है। सजा एक साल की हुई है, लेकिन दो सौ रुपया जुर्माना

भर दे तो आधी सजा कट सकती है। पर उसके साथियों में कोई जुर्माना भरने की बात को ठीक नहीं समझता। देवा ने जुर्म क्या किया है, इसके बारे में किसी को ठीक-ठीक नहीं पता। जब माँ की समझ में और कुछ नहीं आया था तो वह हताश-सी हो गयी थी। गली के लोग इसलिए भी कोई बात नहीं सुझाते थे कि उन्हें कहीं रुपये का इन्तजाम न करना पड़ जाय। तब वह और किससे कहती ! अकेली बैठती तो देवा के पिता जी का ध्यान बार-बार आता। वे देवा के लिए कितने चिन्तित थे। सोचा, अगर उन्हें पता चलेगा तो यही कहेंगे कि मुझे खबर तक न दी। आखिर बेटा तो मेरा भी है, और कौन करेगा उसके लिए। जो हुआ सो हो चुका, पर क्या खून और प्यार के फर्ज छूट जाते हैं।

तब एक दिन उसने 'उन्हें' चिठी लिखी थी—'देवा करहल तहसील में गिरफ्तार हो गया है। कुछ द.ह के नहीं गया। थोड़े दिन पहले पण्डित जी से यह खबर मिली है। वह यह भी कहते हैं कि दो सौ रुपया जुर्माना दे दिया जाय तो देवा की आधी सजा कट जायगी। इतवार की रात को गया था। यहाँ बिल्कुल अकेली हूँ, जी नहीं लगता, देवा की वजह से बड़ा सूना लगता है। कुछ काम भी नहीं कर पाती। आप जो पैरवी ठीक समझें, करके उसे छुड़ा लायें। हो सके तो यहाँ होते हुए आप करहल निकल जायें।'।

जो आदमी अपने काम से गया था और देवा की माँ का खत ले गया था वह वापस आया तो लिखावट के दो शब्द तक साथ न लाया। ज़बानी उसने यही बताया था कि स्टेशन-मास्टर जी का कहना है कि मुझसे पूछकर और मेरी मजी से देवा चलता होता मैं अपना सर भी रोपता, उसका क्या ठिकाना, आज छुड़ाया कल फिर चला जायगा.... नौकरीपेशा आदमी हूँ, और ये सब काम करने के लिए वक्त चाहिए। वह कहाँ से लाऊँ....कल ही मुझे दूसरी जगह रिलीव करना है।

देवा की माँ ने सुना तो पहले विश्वास नहीं आया। सोचा, शायद बेमौके चिट्ठी हाथ में पड़ी हो, पता नहीं दिमाग किन परेशानियों में फँसा हो कि यह तीर खाकर तिलमिला गये हों। जब ठण्डे दिल से सोचेंगे तो शायद डाक से चिट्ठी डाल दें। या शायद अपने घर की बात बाहर वाले के सामने न करना चाहते हों, तो भी डाक से ही आयेगी। लेकिन महीनों इन्तज़ार के बाद भी डाक से कोई चिट्ठी नहीं आयी। वह भीतर कोठरी में जाती, घड़ी हथेली पर रखती तो वही जंजीर हथेली के उस पार भूल जाती, पर कोई आता नहीं। घड़ी की सुइयाँ वक्त बदलती जातीं, पर वे सूनेपन की घड़ियाँ स्थिर-अडिग खड़ी थीं, अकेलेपन के पल अमिट हो गये थे, जिन्हें घड़ी की सुइयाँ नहीं हटा पायीं.... नहीं हटा पायीं....

इधर पण्डित जी का दरि का तकाज़ा नाराजी का रूप धारण करता जा रहा था, उधर वह सारा कारबार रोके, हताश, उन परछाइयों का इन्तज़ार कर रही थी जो चलती हैं, बनती हैं, मिटती हैं, पर बोलती नहीं। आखिर एक दिन जब पण्डित जी खरी-खोटी सुना गये और सूत रंगने देने वाली बात को महज़ बेईमानों और भूठी बात करार देकर बड़बड़ाते चले गये तो वह आँखों में आँसू भरे चरखा कातती रही। टूटते सूत से सूत जोड़ने की कोशिश करती रही और सिसकती रही.... सोचती रही और रोती रही, उसके सूत तो ऐसे बिखर गये थे, जो पकड़ाई ही नहीं आते थे।

जब अँधेरा भुंक आया और घर की बँधी-बँधी फिज़ा में ऊब भरने लगी तो वह एक गहरी साँस लेकर उठी थी, चरखे की चरमराहट रुकी तो और भी निस्तब्धता छा गयी थी। वह कोठरी में पहुँची, तब न जाने कौन-सा धाव उधड़ गया कि आँखें अनायास भरभरा कर बह उठीं।

और तब अँधेरे में बैठे-बैठे उसके सामने जैसे सत्य उजागर होता गया था....वह अब तक किन परछाइयों पर विश्वास करती आयी....देवा

के पिता जी पर....पर वह कितनी बड़ी प्रवंचना थी....कितना बड़ा धोखा वह देते आ रहे हैं। कितनी सफ़ाई से सारी ज़िम्मेदारी टाल गये थे और कितनी ख़ुबसूरती से उसके नारीत्व और पत्नीत्व को तृप्त कर गये थे....इसलिए कि वह कुछ और न सोच सके....वह सिर्फ़ यही तो चाहते थे कि वह इसी तरह लँगड़ाती, घिसटती और अधूरी रह कर भी पति के आकाशी आदर्श की गरिमा में अपने को धन्य मानती रहे....वह नीचे उतर कर धरती का स्पर्श न करने पाये....कहते थे—देवा पर तुम्हारा ही असर पड़ेगा....और इस बात में वे उसकी लज्जा को कितनी बड़ी चुनौती दे गये थे....पर....तब उसकी आँख पर कौन सा पर्दा पड़ा था !

और तब वह उस अँधेरी कोठरी से निकली थी। सिन्दूर की डिबिया उसके हाथों में थी और तुलसी के बिरवे पर चोंदनी मुस्करा रही थी। चारों तरफ़ दूध-सा फैला था और एक अजीब-सी शीतलता थी। वह सिन्दूर की डिबिया हाथ में लिये तुलसी को निहारती रही थी। भीतर बवण्डर-सा था। काँपती अँगुलियों से उसने डिबिया खोली थी और सारा सिन्दूर तुलसी की नीली-नीली पत्तियों पर बिखेर कर अपना सुहाग उसे सौंप, सजल नयनों से उस बिरवे को ताकती रही थी। तुलसी की पंखुरियाँ सिन्दूर मिली दूधिया चमक से जैसे और भी नीली पड़ गयी थीं। और वह तुलसी के घिरुए पर माथा टेके, उस निपट अकेली रात में, अपने एकाकीपन को सोच-सोच कर खिसिया-खिसिया कर रोयी थी, शंका से भर-भर उठी थी, डर से घबराई थी, पर कहीं कुछ था जो उसे रुलाता था और ढाढ़स बँधाता था, उसकी आँखों में पानी का सैलाब लाता था और सोख लेता था....

उस दिन से उसने माँघ नहीं भरी....और कोई चारा न देखकर घड़ी की जंजीर बेचकर रुई खरीद लायी थी। पण्डित की दरी भी बुन कर दे आयी थी।

तब से वह लगातार खरीदी हुई रुई की दरियों बुनती रहती, सूत कातती रहती और एक-एक बुन कर सहेज-सहेज कर रखती जाती। किसी का काम मिल जाता तो कर देती, नहीं तो अपने काम में लगी रहती। देवा को बिछुड़े तो इतने दिन हो गये थे कि अब लगता था वह दूर ही चला गया। जब उसकी बहुत याद आती तो सन्दूक से उसका कुरता निकालती, तह खोलती, उसे देखती और फिर सँभाल कर रख देती।

और जब आज साल भर बाद देवा सामने आकर खड़ा हो गया तो माँ का वही चरखा चल रहा था, जिसका हत्था शीशे की तरह चमकने लगा था। वही स्थिरता माँ के चेहरे पर छापी थी जो सहज भक्ति से मिल पाती है, और सूत कातते क्षणों की खामोशी—जैसे आराधना का मौन ! देवा ललचाया-सा खड़ा देखता रह गया। माँ ने उसका संकोच परखा था। उसे लगा कि अभी वह कुछ वैसी बातें कहेगा जिसमें वही पुराना भ्रम होगा, उसे नौकरी मिल जानेवाली बात जैसी कोई हल्की बचत होगी। पर देवा ने वैसी कोई बात नहीं कही तो चरखे की माल पर हाथ फेरती हुई वह उठी और तब उसने नज़दीक से देवा को देखा। वह जैसे पक गया था, उसके मुख पर श्रम की आभा थी, कच्चा बचपना कहीं दुबक गया था। सारे प्रश्न और उत्तर अपने आप सहज हो गये। सब सरल था। उसकी आँखों में ममता भर गयी, बोली, “देबू आ गया तू।”

“अम्मा....” और रुककर वह बोला था, “बड़ी भूख लगी है।”

“भूख....” उसने कहा।

“साल भर से भूखा हूँ....अम्मा, पूरे एक साल से....”

तब सारा समय सिमट आया, सब स्वाभाविक हो गया। माँ ने

खाना परोसा, देवा ने पानी रखा और माँ-बेटे बेवक्त खाने बैठ गये ।
खाते-खाते देवा ने कहा, “बाबू जी अस्पताल में हैं ।”

“क्या हुआ ?” माँ के चेहरे पर सब प्रकृत था ।

“मोटर में जान-पहचान का खलासी मिला था । मुझे पहचाना तो उसने बताया था कि बाबूजी को प्लूरिसी हो गयी है । एक बार हालत इतनी खराब हो गयी कि चौबीस घंटे बेहोश रहे, फिर कुछ हालत ठीक हुई, पर तीन-चार रोज बाद फिर बिगड़ गयी....छोटे अस्पताल से बड़े में चले गये हैं....”

“कब से खराब है ?”

“एक महीने से, कल जाके देख आऊँ ?” देवा बोला ।

माँ चुप रही । तीन-चार कौर उसने और खाये, गट-गट पानी पिया और उठ गयी ।

शाम गहरी-गहरी उदास थी । देवा का मन हुआ कि इतने दिनों बाद जाकर लोगों से मिल ले । लौटकर आया तो माँ चरखे के तकुए की नोक पटिया पर घिस रही थी । आज माँ की स्वाभाविक उदासीनता में कुछ कलख थी । उदासीनता की दृढ़ता की जगह खोया-खोया मोह था ।

रात को माँ दिये के प्रकाश में बैठी चरखे की रुई साफ़ करती रही । यह चरखा ही शायद उसका सब से बड़ा सहारा था । सूत कातते हुए टूटे तार जोड़ते-जोड़ते अथाह धैर्य और अटूट दृढ़ता उसकी प्रकृति में आ गयी थी । प्रत्येक बार टूटनेवाले तार ने उसकी खीझ, झुंझलाहट और असन्तोष को जीत लिया था । जैसे इसी में उसका निस्तार था, यह चर्खा ही उसका गूँगा गुरु था ।

रुई साफ़ करने के बाद शायद वह लेटती, पर चर्खे को खाट के सिरहाने रख कर वह अंधी अलमारी के पास खड़ी रही । अर्से से रखी हुई चीजों को उठा-उठाकर निहारती रही । कील में लटकते

कृष्ण जी के कलैण्डर को देखती रही और फिर मोम लेकर चर्खे की माल सूतने लगी ।

एक भूपकी के बाद जब देवा की आँख खुली तो देखा, माँ सूत की पूनियों के ढेर के सामने सिर झुकाये बैठी है....मोह का आवरण उसके चारों ओर अदृश्य-सा फैला है और उस अधियारे में उसकी काया असमंजस में पड़ी है । वह कुछ चाह रही थी—पाना या खोना ! पर जैसे न वह पा सकती थी और न खो सकती थी....वहाँ से उठकर उसने दिये को बुझाया तो देवा ने आँखें मूँद लीं, और इस इन्तज़ार में कि अब माँ लेटेगी, वह खद सो गया ।

सुबह की नरम सर्दी से वह कुछ जल्दी ही जागा । दीवार के मोखे से प्रकाश की रेखा आ रही थी और कोठरी का अधियारा भूरा-भूरा हो गया था । उसे कुछ शुभ सा लगा । माँ की खाट खाली थी । कुछ खटका मन में हुआ । उठकर कोठरी की चौखट तक आया ।

बाहर आँगन में जैसे पवित्रता छाई थी....हलकी सर्दी और मन के उजियारे की तरह पावन प्रकाश ! और उस प्रातः के सुरमई आकाश से भरती हुई वह आभामय रोशनी, जिसमें आँगन का तुलसी का बिरवा किसी विश्वास के अंकुर सा स्थिर खड़ा था ! उसके धिरुए पर माटी का दीपक जल रहा था, जिसकी अकम्पित लौ में तुलसी की छाया तले सिर टेके, माँ की सिन्दूर भरी माँघ चमक रहा थी ।

अकस्मात् इतने विशाल शुभ को ग्रहण कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर, वह आँखें मूँद कर उस पूर्णता को पा सकने के लिए यन्त्र-चालित सा खाट पर मुँह गड़ा कर लेटा रहा । थोड़ी देर बाद आहट हुई तो एकाएक वह आँखें न खोल पाया....कहीं अर्थ खो न जाय, पूर्णता लुप्त न हो जाय ।

“देबू....देबू....” माँ ने पुकारा था “सबेरा हो गया देबू, उठो....”

उठकर वह बाहर आँगन में आ गया और माँ कोठरी में घुसी रही ।
जब वह बाहर आयी तो देवा बोला, “अम्मा, हम लोग चलकर बाबू
नी को आज ही देख आयें ।”

माँ ने ऐसे देखा कि क्या वह सचमुच ही यह बात कह रहा था
और क्या उसके लिए भी कह रहा था ? माँ को खामोश देखकर वह
बोला, “तुम तैयारी कर लो, अभी सबेरे दस बजे चल कर रात की
गाड़ी से वापस आ जायेंगे ।”

“मैं नहीं जाऊँगी....” कहते-कहते माँ कमरे की तरफ मुड़ गयी ।

“तुम नहीं जाओगी ?” देवा ने जैसे बात समझने से लिए
दुहराई ।

“नहीं !” माँ के स्वर में दृढ़ता थी ।

“तो मैं चला जाऊँ....?” देवा सहसा कह गया ।

“नहीं ।” माँ ने उसी दृढ़ता से कहा और अपने काम में
लग गयी ।

— — —

पानी की तरबीर

गाड़ी कोई पुल पार कर रही थी, इस्पात पर आवाज़ों की चोट ने उसे कहीं और ला दिया, ऐसी ही किसी नदी के किनारे खड़ा वह झुकती शाम देख रहा था। शाम का सूरज और पानी का बदलता हुआ रंग ! बाढ़ का पानी गाँव की नदी से उतर गया था। चिकनी मिट्टी पर किसी के चरण चिन्ह अंकित थे, घासें दब गयी थीं, घाट की झोपड़ी में अभी लालटेन जली थी। कछुओं पर निशाना साधते-साधते बहुत देर हो गयी, संजय ने दो बार कहा, चलो, पर कोई गया नहीं, आखिर हाथ में मोमबत्ती लिये बाबा खोजते हुए पहुँचे थे।

“इस तरह हड़ायेगा तो ताले कुंजी में कल से रखूँगा,” कहते हुए बाबा ने दोनों को बाँह से पकड़ा, बातों से बेरहम, पर पकड़ से दयालु बने घर की ओर खींचते ले जा रहे हैं, “अब से इधर आया तो टाँगें तोड़ दूँगा।” कि संजय को ठोकर लगती है और बाबा पैर सहलाते गाँव के मुखिया को कोस रहे हैं, “मछली का ठेका लेने के लिए मुखिया हैं, सड़क की हालत के लिए आँखों पर पट्टी बँधी है, अभी लड़के का पैर टूट जाता....”

बाबा ऐसे ही हैं।

बाहर चूबतरे पर मोमबत्ती की रोशनी में नौगुटिया जम गयी थी, चाल अटकते ही जोगिन्दर बाबू को प्यास लगती थी, वहीं से आवाज़ लगायी, “एक लोटा पानी लाना अक्षत ।”

“दिन भर का थका-हारा है, तुम ले लो, “बाबा ने कहा, पर खुद पानी लेने उठ गये । अक्षत नदी किनारे घूमता रहा है । कितनी थकन आती है नदी किनारे, यह बाबा जानते हैं । माँ, पिता, भाई और मित्र की तरह पाला है बाबा ने ।

पढ़ लिखकर बड़ा हुआ पर बाबा की जुबान से सख्त बात नहीं सुनी । विशाल पर्वत की तरह बाबा । बहुत दुस्तर-दुरूह पर बहुत विनत । जो चाहे चरणों से चढ़कर मस्तक पर बैठ जाय....जैसे पहाड़ कुछ नहीं बोलता । उसी की तरह कठोर-कोमल । पता नहीं किन पथरीली चट्टानों के नीचे अदेखी तरलता है, जो किसी क्षण, कहीं भी फूटकर बह निकलती है ।

कथा में वह नहीं जाना चाहता था, पता नहीं क्यों ईश्वर पर विश्वास नहीं होता । बाबा नहीं बोले थे, न बुरा माना था । मन की ठेस दिखायी नहीं । शिवरात्री आयी थी । मन्दिर की सजावट होनी है । बाबा ने कहा, “अक्षत, दिन भर रंगों का खिलवाड़ करता है, मूर्तियों के नाक-नक्शे सँवार दे ।” अब कैसे न जाता मन्दिर, कूचियों और रंग लेकर दिन भर मन्दिर की सजावट में लगा रहा । भक्त आते रहे, उनकी अटूट श्रद्धा अनजाने मन में उतरती रही । शाम से कीर्तन था । जाते हुए बाबा ने कहा, “तुम तो यहीं रहोगे अक्षत, घर देखना । मैं मन्दिर पर रतजगे में रहूँगा ।”

पता नहीं क्यों अक्षत के मन में हुआ कि थोड़ी देर के लिए चला जाय । बाबा धोती पहनाना चाहते थे, मन्दिर और धर्म से उसका कोई सम्बन्ध न जोड़कर बोले, “मेरी धोती पहन ले, देखें तेरे ऊपर फबती है या नहीं । बैठने में आसानी रहेगी ।” बाबा ने मन का काम करवा

लिया था । इसी तरह वे संस्कार दिया करते थे, विचार नहीं । विचार देने वाले हताश भी होते हैं, पर संस्कार देने वाले सदैव आश्वस्त रहे हैं । कितनी सहनशक्ति है बाबा में । जैसे कभी कुछ होता ही नहीं । रोज़ सुबह सूरज की तरह चमकने लगते हैं । अम्लान, अप्रभावित ! रात चाहे जो हुआ हो पर सुबह सब कुछ वही । उनके स्नेह की अनुगुण गरमाहट-भरी कोमलता नहीं जाती । किरनें कभी फूटने से इनकार नहीं करतीं ।

नदी पर रोज़ देर होती थी । चन्द्रमा पियरा कर ढलने लगता तो वह लौटता । मन में बड़ा पश्चाताप होता था । गली में आहट सुनते ही बाबा किवाड़ों से लग कर खड़े हो जाते और कुंडी पर हाथ रखते ही खोल कर उसे भीतर ले लेते । “इतनी सदी है, स्वेटर तक नहीं पहना ।” कहते कहते-चादर में लपेट लेते ।

लेटता तो मनीषा की बात याद आती, “खिड़कियाँ खोल लेना, पर अच्छी तरह कपड़े पहन कर लेटना । रात में देखने आऊँगी ।” और दूसरे दिन बाबा नज़र रखते । शाम को निकलते ही कहते, “कुछ ऊनी पहन ले अक्षत । घर की कोई बात नहीं, बाहर सदी खा जायगा ।”

जैसे बाबा मनीषा पर अविश्वास करते हों और मनीषा बाबा पर । एक दूसरे में अदेखी ईर्ष्या रहती, शंका रहती । अक्षत के लिए किसी को अपने से ज्यादा दूसरे पर विश्वास नहीं । वह चाहता था कि बाबा मनीषा के लिए कुछ कहें, पर नहीं, वे कभी नहीं बोले ।

एक रोज़ बाबा ने संजय के सामने कहा था, “अक्षत घर बसाले तो बेफिकर हो जाऊँ, इसकी माँ की आखिरी बात पूरी हो जाय ।”

संजय ने पूछा, “कहाँ तै की है ?”

“तै तो इसकी माँ कर गयी है ।” बाबा ने कहा ।

“ये सब बेकार की बातें हैं, मुझे कुछ भी करना धरना नहीं।”
“अक्षत ने बात बढ़ानी चाही। सुनकर बाबा चुप हो गये। विरोध की परछाई तक नहीं।”

लेकिन सब जानते हुए भी बाबा बात से नहीं डिगे। मृतकी आखिरी बात रखनी थी। न जाने कैसे पीछे-पीछे सब होता रहा। कहीं खराश नहीं, कोई उथल-पुथल नहीं।....सब अपनी जगह अडिग थे। न बात, न तर्क, जैसे एक-एक विश्वास लिये बैठे हों।

अक्षत सोचता था कि बाबा की बात को अस्वीकार करने पर बाबा कुछ कहेंगे और तब वह उन्हीं से अपनी बात मनवा लेगा, या वे विरोध ही करेंगे तो वह रास्ता पा लेगा। पर बाबा पानी का बहाव थे। हाथ में आकर निकल जाते, वह विरोध करता तो दोनों ओर से कतरा कर वह निकलते, और फिर धारा का वही अविकल प्रवाह।

एक रात अक्षत ने कहा, “बाबा, आप सब जानते हैं, फिर भी....”

“अक्षत तू भी तो सब जानता है।” बाबा ने कहा।

“तो क्या करूँ बाबा, तुम्हीं बताओ। मैं तो केवल एक हूँ।” अक्षत ने कहा।

“एक है इसीलिए, तेरा सुख चाहिए। तेरी माँ से अधिक कौन सोच सकता था। वह तो आज अपने किसी भी स्वार्थ से दूर है। फिर तेरी मर्जी, जो ठीक लगे, जिससे मन भरे....” बाबा ने रुँधे हुए गले से कहा और उनकी आँखें डबडबा आयीं। अक्षत देखता रह गया। बाबा भरी आँखों से उसे ताक रहे थे। उन पुतलियों पर तैरते पानी में उसकी तस्वीर झिलमिल रही थी। पानी की तस्वीर! उसने आँखें झुका लीं, पर वे आँखें कभी नहीं भूलतीं। जब भी कुछ निश्चय करता है तो वे पीछा करतीं। माँगती कुछ नहीं। न आदेश देतीं। न अनुनय और न तिरस्कार। बस यही कि जो तुम करोगे, ये स्वीकार कर लेंगी, इनमें उभरी हुई तस्वीर न मिट जाय....बस केवल यही।

सहसा एक झटके के साथ गाड़ी रुक गयी। अचूत होश में आया। क्या-क्या सोच जाता है। पता नहीं अब मनीषा कैसी होगी ? अनजाने चला आया था। आज वापस वहीं जाते एक क्षण के लिए संकोच होता है। लेकिन बात ही ऐसी थी। और संजय क्या सोचता होगा ? और बापू ! कभी-कभी प्यार भी अत्याचार हो जाता है। उसे सब क्यों इतना चाहते हैं ? प्यार के जुल्म को सह सकने की क्षमता होती तो क्यों चुपचाप चला आता और आज वापस जाने की नौबत आती। कहीं भी तो वह अकेला नहीं था; घर में बापू, बाहर संजय और हर समय मनीषा। उसका कुछ भी अपना नहीं था, एक क्षण भी नहीं। कोई तो धृष्ट करता, कोई तो हिकारत से डाँटता। अपनी-अपनी बातें सब कह लेते हैं पर कोई उन्हें मनवाना नहीं चाहता। 'तुम्हें यह मानना पड़ेगा' आखिर कोई भी यह क्यों नहीं कहता, कोई नहीं कहता; न मनीषा, न संजय और न बापू। कैसे अदृश्य घेरे थे, बहुत मज़बूत पर बहुत कमज़ोर। उसने एक निगाह बाहर की ओर डाली।....कोई तालाब शीशे की तरह पीछे खिसकता जा रहा था। चाँद की पड़ती छाया और भी कोमल होंकर उसमें भाँक रही थी....मन न जाने कहाँ उलझ गया....वह भील कितनी याद आती है....

जैसे अचूत भील के किनारे उतर गया। नील भील का ठहरा हुआ जल। बरौनियों की तरह बॉस के भाड़, लम्बे-नुकीले। बड़ी खामोशी थी। पानी साँस रोके पड़ा था। अपलक देखता रहा। वह भील के वक्ष को छाया उसे निहार रही थी....स्वयं पर मोहित हो गया। कितनी कोमल थी पानी की तस्वीर ! ...और तस्वीर का सौन्दर्य ! हाथ सहम जाते हैं, यह सारा सौन्दर्य खो जायगा, काँप कर तस्वीर मिट जायगी.... कहीं अपनी तस्वीर से ईर्ष्या न हो जाय। भील के लम्बे विस्तार को

देखता है और किनारे खड़े बाँसों को....कि सहसा मनीषा की कटीली नुकीली बरौनियाँ और नील भील की तरह गहरी-अथाह आँखें याद आती हैं। मनीषा की निर्मल मुक्त हँसी और सदैव मुस्कराने के लिए आतुर पतले ओठ।

उसकी आँखों में भाँक कर ऐसी ही छाया मिलती थी, वह साँस रोके देखता रह जाता, भील की तरह आँखों के नम किनारे। और उस पानी में निखरी हुई उसकी तस्वीर ! तब प्यास अनायास मर जाती है, हाथ डुबाये नहीं जाते। अपने से ईर्ष्या होती। मनीषा अपलक उसकी आँखों में भाँकती रहती और वह दृष्टि हटाकर उन मोहक पतले ओठों को देखने लगता। उनके किनारे पतले होकर न जाने कैसे छुप गये थे। ओठों का वह रहस्यमय संधिस्थल ! कैसा आकार है, कुछ याद नहीं आता। बस, वे बहुत सुन्दर हैं। जब सोचने बैठता है तब बनावट खो जाती है। जब उन ओठों के रहस्य को नहीं समझ पाता तो फिर उन आँखों में भाँकता है और वही पानी की तस्वीर उसे फिर-फिर निहारती है। मनीषा जैसे केवल पानी हो जाती है और उसमें उभरी हुई उसकी छाया। पानी और छाया, छाया और पानी। जैसे छाया पानी से विलग नहीं, जैसे पानी छाया से परे नहीं।

मनीषा !

पहले दिन देखा था। मनीषा सामने थी। न बहुत देखने की आतुरता, न अपने को कुछ समझने का अहंकार। अक्षत भी सामान्य था और मनीषा भी। जैसे हर नया विचार कुछ देर साथ रहता है वैसे ही मनीषा के बारे में भी सोचा था। बड़ी सम्पन्न और तेजोमय थी। एक ऐसे पक्षी की भाँति जो अपने पंखों की शक्ति पहचानता हो। हवा को काट फेंकने का दंभ नहीं, पार कर जाने की क्षमता पर विश्वास

हो, वस इतना ही। इससे अधिक कुछ नहीं। कोई असाधारण आकर्षण नहीं।

एक दिन सहसा मनीषा ने पूछा था, “तुम्हें कैसा लगता है ?”

“क्या ?”

और मनीषा के ओठों के संधिस्थल और भी रहस्यमय हो गये थे, जैसे अक्षत की आँखें कुहरे के पार डूबे नदी तटों को देखती हों; ऐसे तट, जिन तक पहुँच पाने के बाद धार दिखायी देती हो।

कभी कहती थी, “अक्षत तुम्हें देख कर मन धुल गया था, बहुत डरती थी आदमियों से। पता नहीं क्या कर देते हैं कि ज़िन्दगियाँ टूट जाती हैं। बूढ़े निरापद लगते थे। पता नहीं तुम लोगों की तेज़ी में कैसी वंचना की गंध आती थी, सब झूठ लगता था। बड़ा पछतावा हुआ बाद में, कितना ग़लत सोचा। निस्वार्थ हँसी केवल तुम्हीं लोगों के पास थी। आदमी का डर भाग गया था। राजीव, संजय, अमित, अशेष और तुम। तुम्हारे छोटे-छोटे आदर्श और कल्पनाएँ कितनी पवित्र हैं। इतना रस कहाँ से मिलता है अक्षत। दुनिया में रहते हुए भी उससे अलग होकर सपने कैसे बुन लेते हो ? वगैर सोचे समझे कैसे हँस लेते हो। सचमुच स्वार्थी नहीं हो !....कितनी बड़ी सार्थकता है तुम लोगों के जीवन की....”

“क्या है, सब बेकार जी रहे हैं अभी तो। किसी के काम नहीं आते, न घर के न अपने, संजय कुछ भी तो नहीं करता। अमित यूँ ही दिन काट देता है और खुद मैं... कोई अर्थ नहीं....ऐसे कुछ होता है ?”

“होता है अक्षत, तुम्हीं सब तो कगार के पेड़ हो, जिनकी जड़ों से धरती चिपकी है, नहीं तो धार छोड़ती ? ये पहाड़, चाँद-सितारे आखिर कौन सा अर्थ लेकर जी रहे हैं....इन्हें बेकार कहोगे। हर क्षण अर्थ खोजोगे तो स्वार्थी हो जाओगे। जब तक अर्थहीन जी लोगे तभी तक

यह पवित्रता का तेज मुझे दीखेगा, मुक्त रह लूँगी। तुम सब तो सौन्दर्य हो, अपने में पूर्ण। विजया कहती थी, 'तुम सब बेहूदे हो, देखकर हँसते हो तो बड़े भद्दे लगते हो, चिढ़ होती है।' पर तुम सुन्दर न होते तो हमें यह गर्व कहाँ से मिलता अक्षत ?”

जब मनीषा किसी दूर देश से बोलती तो अक्षत हँस पड़ता, “तुम तो रहस्यवादी हो जाती हो, कुछ ज़मीन का सोचा करो....स्थूल।” वह कहता और मनीषा की ओर देखता। उसका फेन-सा स्वच्छ शरीर। आकर्षक लगती। और नज़दीक से देखता....वह आकर्षण खींचता। और निकट जाता तो सब कुछ रहस्यमय हो जाता। जैसे छिल्लले पानी को उलीचकर फेंकने में सुख हो, कुछ और गहरे में डूबकी लगाने का, और गहराई में उतर कर केवल आकण्ठ डूबे रहने का आह्लाद, न पानी उलीचने की चपलता, न डूब निकलने का आतुर साहस।

एक दिन उसकी आँखों में आँसू थे, “कुछ बताओ अक्षत, क्या हम ऐसे नहीं रह सकते ? क्या यह सब ज़रूरी होता है। और क्या अधिक मिल जायगा। तुम्हीं बताओ। तुम्हारा कुछ भी नहीं चाहिए। सब बाँट दो अक्षत ! पर अपने रंगों को जीवित रखना....अपने लिए। जो केवल तुम्हारा होगा, वही मेरे लिए बहुत है। मैं मरना नहीं चाहती अक्षत। मुझे मारना मत।”

सुनकर अक्षत खामोश रह गया था। उसकी आँखों में भाप सी उमड़ी थी पर पानी नहीं था। सब कुछ भूलकर मनीषा एकदम बोली थी, “बरसने के पहले के बादल बहुत अच्छे लगते हैं....बस ऐसे ही रहना, इससे ज्यादा कुछ नहीं....”

“बात क्यों उड़ाती हो, सब साफ़-साफ़ बताओ।” अक्षत ने पूछा था।

“कुछ भी नहीं, बस ऐसे ही। तुम परेशान मत हुआ करो। मैंने

मज़ाक की थी। इतना भी नहीं सह सकते....” कहकर मनीषा ने बात उड़ा दी थी, “तुमसे अच्छा तो संजय है। न जाने इतना क्यों चाहता है तुम्हें, घंटों तुम्हारी बातें करते नहीं थकता। तुम सब कितना सोचते हो एक दूसरे के लिए।” और बात संजय की ओर मुड़ गयी थी।

फिर एक दिन बोली थी, “संजय ने एक खुशख़बरी सुनायी है।” सुनकर अक्षत उदास हो गया, बोला, “यह सब होने नहीं जा रहा है। मुझे कुछ भी नहीं चाहिए....न तुम और न दूसरा। मैंने तो माँगा नहीं, बाबा न जाने क्यों परेशान हैं। तुम्हारे प्रति उनका व्यवहार भी बिगड़ा होगा। कैसे देखते हैं तुम्हें?”

“जैसे पहले देखते थे, तुम्हारे लिए ही तो सब सोचते हैं। सचमुच कितने भाग्यवान हो तुम, मुझे तो ईर्ष्या होती है। तुम्हारी जगह मैं होती तो सुख उठाये न बनता। तुम जीना भी नहीं जानते। मैं बाबा के साथ चीज़ें पसन्द करके उसके लिए भेजूँगी।”

“तुम यह सब ठीक समझती हो....”

“इसमें ग़लत क्या है? बाबा की बात स्वीकार करलो अक्षत। उन्हें दुख देखकर क्या मिलेगा।”

अक्षत हँस दिया था। बोला, “मैं कुछ भी नहीं।”

“हो, इसीलिए। मन स्वीकार लेगा। न स्वीकारे तो और कुछ सोचना। पर ग़लत नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो औरों को दुखदायी हो....” वह बोली थी।

इतना सब होकर भी कुछ नहीं हुआ था, जैसे दोनों अछूते थे। वे किसी और की बातें थीं। पर कुछ था जो कसक जाता था....न जाने कैसा दुख। पता नहीं क्या था मन में, दुख की संज्ञा में अर्थदोष दिखायी पड़ता था। इस परिताप में एक तृप्ति थी, पश्चाताप और कुछ खो देने की विकलता के साथ ही अदम्य शक्ति। विश्वास पा लेने पर भी रिक्तता, शायद यह रिक्तता ही अटूट विश्वास की कड़ी थी।

ठीकाठीक दोपहर में मनीषा आयी थी। “चलो नदी की तरफ घूम आयें।” गाँव की बस्ती के पार की बह नदी। आग बरस रही थी। आखिर नदी का किनारा, उस पार ले जाने वाली नावें स्थिर थीं। दूर का कच्चा बालू की धूल में छुन गया था। चारों तरफ जैसे आग लग गयी हो और उड़ती रेत का सफ़ेद धुआँ। जगह जगह जैसे शीशों के पहाड़ हों, जिनकी आकस्मिक चमक आँखों की रोशनी छीन लेती है। उजेले का अंधापन.... और हवा उन चमकते गर्म शीशों को हिला जाती। नदी की सतह पर किसी ने घी उड़ेल दिया था, पानी पर तैरती चिकनाई की चादर! हवा आग के दायरे में घिर कर अकुला रही थी। शून्य, सन्नाटा बोलता था। दोनों एक छप्पर के नीचे बैठ गये थे। उसके नीचे नदी नहीं, लावा बह रहा था।

मनीषा घुटनों पर सर रखे चुपचाप बैठी थी। आँधी आयी थी। और दोनों छप्पर से निकल कर बोधि वृक्षों के नीचे आ गये थे, सामने ढाल है। सारा शरीर धूल से ढक गया है। मनीषा नज़दीक खींच कर बालों में पड़े तिनके बीनती जाती है। सहसा उसने पूछा था, “पेड़ गिर पड़े तो?”

“दोनों दब जायेंगे....”

“मेरे लिए सफ़ेद गुलाब लगवाना।”

“और मेरी देह से जो भी काम आये, सब ले लिया जाय। मन की आग भी....”

दोनों और निकट आ जाना चाहते थे, पर नहीं। अपनी बनायी दीवारें नहीं तोड़ी जातीं। दोनों सम्पन्न-संतप्त खड़े हैं। “एक बात मानोगी मनीषा?” उसने पूछा था।

“क्या?”

“विन्ध्याचल की तरह मानना पड़ेगा।”

“कब आओगे, बस यह बता दो और सब स्वीकार कर लूँगी।”

“कभी नहीं,” कहते-कहते भीतर का धीरज टूट गया था। पर दोनों चुप थे। जैसे नदी तट पर कोई प्रतिज्ञा करके धार रहे हों। उस पार नावें अभी नहीं खुली थीं, इधर का घाट भी वीरान पड़ा था। दूर स्टेशन पर जब रेल की सीटी गूँज जाती है, तब दो घंटे बाद कोई घाट पर नाव का इन्तज़ार करता दीख पड़ता है। आज शायद कोई भी नहीं आया था।

दोनों उठकर चले आये थे और पागलों की तरह पतेल के वनों की ओर चले गये। बस साथ रहना इष्ट था। अक्षत के पैरों को पतेल ने काट दिया था। चरागाह की ओर से घूमते वापस लौटे, तब शाम हो गयी थी।

और तब से आज तक, न अक्षत ने कोई वचन लिया था न दिया था। विन्ध्याचल नत होगा। अकारण। मनीषा क्या देती थी, वह नहीं जानता। क्या माँगती थी, यह भी नहीं जानता। वह सब कुछ उसी पर छोड़ देती थी। जो मन स्वीकारे वही ठीक। अधिकार हीन होकर अधिकारिणी हो जाती थी।

तेज़ सीटी की आवाज़ के साथ गाड़ी रुक गयी। चारों तरफ़ सन्नाटा था। बीहड़ सुनसान में अचानक यह रुकाव कैसा? अक्षत ने आँखें रगड़ लीं। खिड़की से बाहर भाँका तो नागफनी की बाड़ दूर तक खड़ी थी। कोई स्टेशन नहीं था। शायद सिगनल का इन्तज़ार हो। न जाने अपने आप में कैसा लगा। मन भर-भर आता है। डिब्बे में सब सो रहे हैं, कोई भी नहीं जागता, कुछ देर बातें ही करता। गाड़ी धीरे-धीरे रेंगने लगी। एक छोटा सा गाँव सोया पड़ा था। धूमिल चाँदनी में छतें और ऊँची ड्योढ़ियाँ चमक रही थीं, छप्परों की किनारियों से दूध भर रहा था। चाँदनी के चमकदार बादलों के बीच

से भोपड़ियों की कुछ गर्वीली चोटियाँ झँक रही थीं। भूड़ मट्टी के मैदान चाँदी से चमक रहे थे....

संजय और चमकती रेती !

ऐसे ही रेती चमका करती थी। दोनों किनारों पर फैली हुई रेती। संजय बौंह पकड़कर कहता, “अक्षत, चलो। अब बहुत देर हो गयी।” पर दोनों चाँदनी में डूबे गाँव को देखते रह जाते थे....बचपन बीता और दोनों अलग होकर कितने वर्षों बाद फिर उसी गाँव में मिले थे। अब अक्षत रंग और कागज लिये, न जाने क्या-क्या उतारा करता था और संजय न जाने क्या क्या लिखता रहता। दोनों में न जाने कैसी क्षमता थी, संजय कहता, “अक्षत ये गाँव जागेंगे....ये जो कुछ इनमें दूट कर बदल रहा है, इसे रंगों में उतारे जाओ। एक इतिहास बना कर रख दो....”

और जब-जब मन हारता, उसे मनीषा का दिया हुआ शाप याद आता—‘अपने रंगों को जीवित रखना....अपने लिए....’ सचमुच शाप ही लगता। कहता, “बड़ा मुश्किल है संजय ! बनाते-बनाते नदी का रंग बदल जाता है !”

“बदल जाने दो, वह तो हमेशा रहेगा, पर जाल फेंकने से पहले मछुआरा झुक कर जब अपनी शक्ति तोलता है, उस मुद्रा को लो, मल्लाह जब नदी की छाती में बाँस गड़ा कर धार चीरता है, उस पौरुष को लो अक्षत ! नदी में दीपदान करती स्त्रियों की श्रद्धा को लो। ये हमारी प्रगति के चरण हैं, पता नहीं कल कौन सा रूप होगा। ये दृश्य जीवन के किसी और रूप को जन्म देकर खो जायेंगे। इन्हें इनके पूरे अर्थों के साथ उतार लो....” संजय कहता था, “तुम्हारी रेखाएँ और मेरे शब्द एक जीवित युग छोड़ जायँ....”

तब मनीषा का शाप न जाने किन ऊँचाइयों तक उठा ले जाता

....कितने रंग, कितने चित्र, मुद्राएँ और भाव । कहाँ फुसत है । सारे सामाजिक सम्बन्ध सुविधा के लिए हैं, स्थितप्रज्ञ हो सकने के लिए, आचरण-वृत्ति और वासना के नियम के लिए । रंगों के साथ सबका शमन हो जाता है, कहाँ कुछ व्यापता है । कोई कमी नहीं खलती ।

तब संजय खुद ही कहता, “इस तरह पागल हो जाओगे अक्षत । वह तुम्हारे लिए आती है और तुम समझते नहीं ।”

फिर काफी दिनों बाद एक बार बोला था, “अक्षत, बहुत भाग्यवान हो तुम, मनीषा तुम्हारी अतिरिक्त शक्ति है, तुम्हें कभी इस साहसिक जीवन से डिगने नहीं देगी । जहाँ रुकोगे, वह चलायेगी । जीवन कभी हार नहीं पायेगा....”

लेकिन जब बाबा की बात उसने सुनी थी तब संजय ही सचमुच दुखी था । बहुत सोच समझकर उसने कहा, “अक्षत, बाबा की बात स्वीकार करके क्या कर पाओगे ? तुम्हारे रंगों के वगैर हर चित्र अधूरा रह जायगा । सुबह नदी पर पाना लेने जाता हुई औरतों की धीर्मा चाल की रेखाएँ जब तक तुम्हारे कागज पर नहीं उतरेंगी तब तक उस चाल का सौन्दर्य कहाँ उभरेगा । सौन्दर्य तो तुम देते हो, नहीं तो ये अभ्यस्त आँखें एकरसता के अलावा क्या देख पाती हैं ? वही रोज़ के दृश्य हैं, पर तुम्हारे रंग उन्हें रोज़ नया अर्थ देते हैं । कौन सी बड़ी सार्थकता है अक्षत । बाबा की बात या ये उल्लास....जो सबके लिए अनायास तुम्हारे माध्यम से मिल जाता है । कोई सहायक लो, जुआ मत खेलो । हर जुआरी आखिर में हारता है ।”

और तब मनीषा, बाबा और संजय सर्वा सामने थे । किस पर आँख मूँद कर अविश्वास करे । खुली आँखों ता हर कोई महान दीखता है ।

संजय से उसने बहुत अपनेपन से कहा, “तुम सब क्या चाहते हो ?

कुछ भी समझ में नहीं आता। सब जैसे मन की बात हुई जाती है, बुद्धि केवल वहीं काम देती है जहाँ तर्क हो, विरोध हो, अविश्वास हो, रहस्य हो। पर संजय, यहाँ तो सब स्पष्ट है। सब साफ़ है। ग्रन्थियाँ तो कहीं नहीं। मनीषा, बाधा और तुम....सभी केले के तने की तरह सीधे और ग्रन्थिहीन....इसलिए बार-बार सरक जाता हूँ....इन तनों में गाँठें होतीं तो शक्ति आजमाता। विरोध हटाता। स्वार्थ होता तो टकराता। बुद्धि ऐसी जगह बड़ी अशक्त हो जाती है। जो मन से पाता है उसे बुद्धि से ज़बरदस्ती तर्क जाल में डालकर तोड़ देना बड़ा दुष्कर है....इसीलिए कहता हूँ संजय, विद्रोह और संघर्ष मन की थाती हैं, बुद्धि की नहीं। कोई उलझन मेरे सामने नहीं, पर कुछ इतना विराट और व्यापक सामने है जिसे देखने में दृष्टि हार जाती है....अन्तरिक्ष दृष्टि का सीमा है, प्राकृतिक विस्तार की नहीं। रात का अँधेरा भी हमारी दृष्टि की सीमा के कारण है, सुबह तो कहीं न कहीं होती ही है। बस संजय, ये सीमाएँ हैं मेरा सीमित जीवन, सीमित साधन और परिस्थितियाँ। सब कुछ करना चाहता हूँ, सबके लिए करना चाहता हूँ, पर कैसे ? किस तरह संजय ?”

“अनिश्चयता के लिए मन उत्तर नहीं देता। जो मूल्यवान हो उसे उठा लो ! यह अन्तर करना पड़ेगा, जो कम मूल्यवान हो उसे छोड़ो, चुनना पड़ेगा अक्षत।” संजय बोला था।

“किसके मूल्य को कम आँकूँ ? कोई तो सामर्थ्य से कम नहीं देता। जिसके पास जो है दे देता है, फिर यह अन्तर की बात कहाँ है संजय। मूल्यांकन करने के लिए अन्ततः दृष्टिदोष चाहिए। वह कहाँ से लाऊँ। अपने मन को सँकरा कर लूँ ? शायद तभी किसी पर विश्वास कम हो सकेगा, नहीं तो नहीं। यह नहीं हो पायेगा....नहीं कर पाऊँगा....” अक्षु ने कहा था।

“खुद सोचकर स्वीकार करो।” संजीदगी से संजय बोला।

“सब तो तुम लोगों ने सोचा है....कुछ और सोचो मेरे लिए....जो सचमुच सही है उसे अपने अंह में, व्यक्तित्व के झूठे पौरुष पर गलत कैसे कह दूँ ? इसलिए कि उन बातों को सही मानते हुए भी व्यक्तित्व की विशेषता का आडम्बर खड़ा करूँ ? कुछ नया कर जाऊँ... यह नयापन बहुत पुराना है। आदिम बर्बरता का एक रूप है। यह वैयक्तिक चमत्कार की सड़ी हुई सामन्ती मान्यता है संजय। धर्म ने कितने चमत्कार खड़े किये। पर हमें कहाँ पहुँचाया ? भ्रम और अंधविश्वास में छोड़ गया। चौरासी करोड़ देवताओं के रहते हुए, देवताहीन बौद्ध मत फैल ही गया। कोई नहीं रोक पाया। तुम सभी बोधिसत्व हो....किसे नकार दूँ !” अक्षत ने बहुत मन से कहा था।

“इतना बड़ा विश्वास लेकर जी पाओगे ?” संजय बोला, “यह भी भ्रम का दूसरा रूप है....”

“भ्रम बुद्धिहीन के लिए है,” अक्षत आवेश में बोला, “विश्वास लिया नहीं जाता संजय, धारण किया जाता है। शरीर धारण करके हम अंतिम क्षण तक जी लेते हैं। मेरे या तुम्हारे जी लेने में ही कौन सी दुविधा है।”

संजय चुप हो गया था। और मनीषा की बातें उसे याद आती रही थीं, ‘तुम जी सको, तुम्हारे रंग जी सकें, बस इतना चाहती हूँ, इन्हें धूमिल मत होने देना। इन्हें सीमा में जिलाओ, चाहे असीम में....चाहे जिसमें। फिर चाहे जो स्वीकार करो अक्षत !’

एक झटका लगा और गाड़ी रुक गयी। उसका छोटा-सा स्टेशन मदहांश पड़ा था। दूर का आसमान सुरमई होकर चोंदनी पी रहा था। हवा में नमी थी। डिब्बे के एकाध यात्री जागने के क्रम में थे। न जाने मन कैसा हुआ कि लौटने को कहने लगा। यह दो वर्षों का अज्ञात-वास क्या क्या देखेगा जाकर ?....एक भी पत्र नहीं डाला इस बीच।

सब लोग क्या सोचते होंगे । और सहसा पाकर किस तरह मिलेंगे । उसने सामान उठाया और उतर पड़ा । प्लेटफार्म पर खड़े होकर इच्छा हुई कि पंख लम् जायँ और वह गाँव में हो....इस चाँदनी के आसमानी समुद्र से स्वप्न की तरह उतरे । मनीषा बाहों में घेर ले, संजय मार बैठे और बाबा अपने में डुबो लें ।

हल्की हवा चल रही थी । सारे कपड़े उतार दे । यहाँ से वहाँ तक नंगा होकर घूमे । जैसे अक्षत को सब वहीं मिल गये हों । कौन पराया है जिससे शर्म करे । छिपाव रखे । तभी गाड़ी छूट गयी और वह सामान लिये उस छोटे से स्टेशन से बाहर आ गया ।

कुत्ते जाग गये थे । दुकानें सोयी पड़ी थीं । कदम उठते गये और पता नहीं किस तरह सारा रास्ता कट गया । वह नदी के किनारे खड़ा था । एक क्षण देखता रह गया....बहता हुआ अथाह पानी । कहीं कगार टूट कर भ्रम से गिर पड़ी । ठेकेवाले जाग गये थे और एक बड़ी व्यापारी नाव में जूँट चढ़ाये जा रहे थे....उर....र....र....र और फिर छप....छप....! नाव काँपी और जूँट चढ़ गया । सवारीवाली नाव के लिए अभी सवारियाँ थी नहीं । वह उसी नाव पर बैठ लिया ।

नदी चढ़ी थी । बाँस से किनारा ठेला और अब धार थी । बहता हुआ पानी । सहसा मन अकथनीय बोझ से भर आया । पानी में गंदलापन और गति थी । पानी की ओर देखा ।....कोई तसवीर नहीं भाँकती । न जाने कैसा बोध हुआ । अक्षत को लगा कि वह नाहक ही चला आया, न आता तो अच्छा होता । कौन मिलेगा अब ? सब पराये हो गये होंगे । सब तस्वीरें मिट गयी होंगी । सारा उल्लास और आह्लाद खो गया । उसे कोई न देखे । मन हटाने के लिए उसने बनाये चित्रों की फाइल निकाली । कितना रंगा है उसने । मनीषा के शाप ने एक क्षण को भी नहीं बैठने दिया । बीमार न पड़ता तो न जाने कितने चित्र होते । अनगिनत ।

पूरब से सुबह हो रही थी। पानी पारे की तरह मोटा था और लहरों के थपेड़े उसे कँपा रहे थे। दूर किनारा अभी धुँधलके में डूबा था। मन फिर हुलस आया।

विन्ध्याचल अभी नत होगा।

संजय शब्दों के महल में सोया पड़ा होगा।

बाबा आँखों में तस्वीर लिये गुम-सुम बैठे होंगे।

और वह जाकर अपने रंगों से सबको भर देगा।

किनारा आते ही मन डूबने लगा। क्या होगा? कौन कैसा हांगा। उतरकर एक क्षण सोचा, पहले कहाँ? संजय की ओर। उससे सबके लिए पूछ पायेगा।

अभी तो घर का दरवाज़ा आया था। भीतर शब्दों का महल खड़ा होगा! खटखटाया तो बड़े भाई ने दरवाज़ा खोला। सम्पूर्ण भर लिया। जैसे बोल न पाते हों। “अक्षत....कहाँ खो गये थे, अञ्छा किया तुम आ गये....बहुत अञ्छा किया तुम आ गये, बहुत वक्त से आये अक्षत।” और उन्होंने बाँह पकड़ कर शब्दों के महल के भीतर कर दिया....

एक बार देखता रह गया। चारों तरफ़ कागज़। कागज़ के ढेर.... अलमारी में, सन्दूक पर, खिड़की पर, मेज़ पर और उन पर जमी हुई धूल की पर्त। सचमुच शब्दों का महल खड़ा था। सम्मन्न-सा ताकता रह गया। तभी संजय की आवाज़ कानों में आयी। “आओ अक्षत....”

आवाज़ ने दिशा दी। उधर कोने में एक खाट पर संजय पड़ा था। कितना लम्बा हो गया और आँखें जैसे निकली पड़ती थीं। मुख पर केवल आँखें थीं। संजय कुछ बोल रहा था, अक्षत ने सब धीरे धीरे सुना....

शब्दों का महल बन चुका था, पर शिल्पी जाने को तैयार खड़ा था।

और....और बाबा की आँखों की तस्वीर मिटी नहीं, वे उसे साथ ले गये ।

और विन्ध्याचल नतशिर चला गया । अक्षत द्वारा दिया मस्तक का शाप ज़रूर उतर गया । अब सूरज रोज़ सुबह सिन्दूर भरता है ।

अक्षत ने गहरी साँस लेकर संजय को देखा और फिर खिड़की की ओर । सुबह सि-दूरी मोंघ लिये मिलने आ रही थी—मनीषा तो नहीं.... और उस सिन्दूर के बीच डबडबाया-सा गोला उभर रहा था—बाबा तो नहीं....

कहीं भी पानी नहीं था कोई तस्वीर नहीं थी । पथरीली ज़मीन दूर तक पैली पड़ी थी । एक दूसरी ही सृष्टि थी....

संजय बुदबुदाया, “अक्षत, अब पत्थर पर तस्वीरें आँकना । पानी के रंग चुक गये....इन पत्थरों को तराशना, इनकी मूर्तियाँ ग ना....”

अक्षत उन पथराई आँखों को देख रहा था जो और भी बड़ी होती जा रही थीं ।

संजय फिर बुदबुदाया, “मैं जानता हूँ अक्षत ! वे पत्थर भी एक दिन चुक जायेंगे, तब तिनके उठा लेना, उन्हें जोड़-तोड़ कर रूप देना, पर हारना मत....”

अक्षत ने संजय की पथरायी-उदास आँखों में भाँक कर देखा, उनमें पानी छलछला आया था । अक्षत ने काँपते ओठों से उसका माथा चूम लिया । शाप स्वीकार करके उसने ऐसे ही मनीषा का माथा उस दिन भी चूम लिया था....जीवित रह सकने की शपथ के लिए ! और तब से आज तक वह जीवित है ।

— —

धूल उड़ जाती है

तब यहाँ एक छोटी सी बस्ती थी । मंदिर और मस्जिद थे । डाक बँगला और स्टेशन पास हैं पर शहर से स्टेशन जाने वाली सड़क ने रास्ता बदल लिया, इसलिए उसका कोई सम्बन्ध इस उजड़ी बस्ती से नहीं रह गया । जैसे बहाव बदल लेने वाली नदी अपना कोलाहल और स्फूर्ति साथ ले गयी हो ।

जुम्मन साईं की कोठरी और नसीबन की झोपड़ी तब भी यहीं थी, अब भी यहीं है । उनके अलावा गिरे और ढहे हुए कच्चे मकानों के निशान बाकी रह गये हैं ।

अँधेरा हो रहा था, साईं बोला, “नौ बरस हो गये लेकिन इधर कोई नहीं आया । अब बच्चन भी क्या आयेगा भला ?”

नसीबन ने सिर्फ हँकारी भरी ।

साईं ने फिर कहा, “सब तो चले गये नसीबन । आदमी और आदमजात ! नयी सड़क क्या बनी, यह सड़क ह वीरान हो गयी । बस्ती उजड़ना थी, उजड़ गयी....अब तो मन बहुत भटकता है, तू तो नहीं चली जायेगी कहीं....यह धरती भी....”

नसीबन ने बात काट दी, “साईं, धूल उड़ जाती है....मिट्टी उठ सकती है, धरती नहीं जाती कहीं, धूल-मिट्टी का क्या !” और नसीबन

बात खत्म करते-करते हँस दी। साईं चुप हो गया। नसीबन स्टेशन के उस पार चमकती बिजली की रोशनी की ओर देखती रही। जब से स्टेशन के पार, पाताल तोड़ कुएँ खोदने वाले, जर्मन कारीगरों का डेरा पड़ा है तब से वह ऊसर आबाद हो गया है। ज़िले में मज़दूरों की रोज़ी चमकी। जैसे जैसे काम बढ़ता जाता, मज़दूरों की खपत भी बढ़ती जाती।

गर्दिश का मारा बच्चन भी आठ बरस पहले यह बस्ती छोड़कर चला गया, तब से साईं एक ही रट लगाये रहता, “सब वीरान हो गया, सब उजड़ गया।” और जब नसीबन उसकी बात काट देती, “साईं धरती नहीं उजड़ती।” तो वह अविश्वास से मुस्करा भर देता।

बच्चन की बात का ध्यान आते ही नसीबन ने साईं की ओर देखा, वह अपने में डूब-उतरा रहा था। नसीबन सोचने लगी—यह अकेलापन भी कितना अजीब होता है, दोस्त को दुश्मन और दुश्मन को दोस्त बना देता है, पर वह इस नासमझ साईं से कोई रिश्ता क्यों नहीं रख पाती? क्या अकेलेपन की यह भी एक मजबूरी है? उसने फिर साईं की तरफ़ देखा, वह चुप था। नसीबन उधर रोशनी की तरफ़ ताकने लगी। सुरमई तम्बू चमक रहे थे। बड़ी-बड़ी मशीनें पहाड़ियों की तरह स्थिर खड़ी थीं। दूर से दीखती धुँधली रोशनी में आदमियों की छायाएँ इधर-उधर आ जा रही थीं।

सड़क की ओर देखा तो लगा, सात-आठ छायाएँ इधर ही आ रही थीं। लेकिन कौन आयेगा इस वक्त, राहरी होंगे। तब नसीबन को भी हल्का-सा पश्चाताप हुआ।

नौ बरस पहले पाकिस्तान बना और यह चिकवों की बस्ती अपने आप उजड़ गयी। तौंत के सितार पर उभरने वाले शाम के तरन्नुम डूब गये। चिकवे पाकिस्तान जाने के हौसले से चले थे, पर ग़रीबी आड़े आ गयी, इसलिए सूबा भी पार न कर पाये, वापस फिर ज़िले में

इधर-उधर बिखर गये। हिन्दुओं में बन्चन रह गया था, लेकिन वह भी घबराकर लापता हो गया। वे बीते हुए दिन भी कैसे थे—

जुम्मन साईं की कोठरी बस्ती का केन्द्र है। हरदम अगर और लोबान जलता रहता, दो-चार आदमी बैठे रहते। मस्जिद के कुएँ की रौनक! गफूर की मशक कुएँ पर भरती और टाट के पदों के पीछे रहने वाली बेगमों और पर्दानशीन बीवियों की इज़ाज़त से कच्चे घरों में खाली होती। मस्जिद के दालान में मकतब लगता, मंदिर के अहाते में पाठशाला जमता। मकतब में बच्चे नरकुल की तरह हिल-हिलकर कुरानपाक की आयतें रटते और पाठशाला में सन्तरी की तरह खड़े होकर प्रार्थना करते और पहाड़ा दुहराते। मौलवी और पंडित लगभग एक दूसरे की ओर पीठ फेरकर बैठते, पर मस्जिद की जालीदार दीवार और मंदिर के ढहे हुए अहाते में जमनेवाले पाठकों की आँखें चार होतीं, मुँह बिराए जाते, पंडित और मौलवी की नक़लें उतारी जातीं, इमली दिखा-दिखा कर ललचाया जाता।

छुट्टी होने पर तख़्तियों, पटरियों और बस्तों से बेपनाह मारपीट होती। बुदकके फूटते, खड़िया से नाक-मुँह रंग जाता। या फिर तख़्ती-बस्ते वगैरह सब एक जगह इकट्ठे किए जाते, एक-दो पहरेदार उन पर तैनात रहते, बाकी सब गोल बनाकर पजावे के पीछे वाली बेरियों पर धावा बोल देते। दूसरे रोज़ रखवाले की शिकायत पर इधर हमीद मुर्गा बना नज़र आता, उधर किसनू की पीठ पर घमाघम घूँसे बजते होते।

जुम्मन साईं लम्बा चोंगा पहने, बीतराग-सा गली से होता हुआ शहर की ओर चला जाता। महमूदा का अब्बा बैठा सूप बनाता रहता, नाज़िर का दादा पैर से छुरी दाबे खाल की डोरी काटता।

अपने कटोरे में पैसे खनकाता और तूँबी लिये साईं लौटता तो

जैसे शहर भर का दर्द बटोर लाता । जुम्मन मूँगा और कौड़ियों की माला और उगलियों में चौंड़ी के छल्ले पहने, सुर्मा लगी गँदली आँखों को मिचमिचा कर दर्द से कहता, “गरीब के लिए क्या कुछ होना है....उसे तो सिर्फ बर्बाद होना है....नस्ल बिगड़ती जाती है, लौंडे आवारा हो गये हैं । रास्ता चलते ढेला मारते हैं । कुत्तों को लगा देते हैं....” और फिर बस्ती के लड़कों की तरफ़ देखकर कहता, “जेबें कतरोगे तुम लोग, राहज़नी करोगे कम्बख़्तो !”

नसीबन यह सुनती तो झुंझला उठती । क्या सचमुच ये सब बिगड़ जायेंगे ? अपने बच्चों की तरफ़ निगाह डालती है । कोई कुछ करता पकड़ा गया और समझ में न आया तो बच्चों पर ही बरस पड़ती है । बच्चे भेंड़ा है इसलिए बच जाता है । औरों पर गुस्सा निकालने का एक ही तरीका होता है—“मुआँ आँख से आँख मिलाये जाता है । सलाख भोंक दूँगी, डेला निकल पड़ेगा....बोल फिर चुरायेगा....” और साथ ही मार पीट और गालियाँ खुदाबन्द ताला से माँग कि बद बनाने से बेहतर हो इन्हें उठा ले ।

यह शोरगुल सुनकर जुम्मन साईं बहुत उदार हो जाता है । अपनी दाढ़ी सहलाते हुए नसीबन की भोपड़ी के नज़दीक पहुँच कर बड़बड़ाता है, “काहे को मारती है नसीबन, तेरा नसीब तो ये ही हैं ।”

“मैं तो पनाह माँगती हूँ ऐसी औलाद से, पिछ्लों की तरह जिये जा रहे हैं, एकाध को मौत आती तो सकून आता ।”

साईं भी झुंझला उठता, “तो सिन्नियाँ बोल दे औलिया बाबा की डाइन, ठंडक पड़े कलेजे में, अपनी औलाद भारी पड़ गयी ।”

जब तीन जहान को समझने वाला साईं भी उसके भीतर छुपी माँ को नहीं समझ पाता और डाइन कहकर चीख़ उठता तो नसीबन फूट-फूट कर रो पड़ती ।

जुम्मन साई की कोठरी के पास आध्यात्मिक शांति के लिए स्टेशन के कुली और इक्के वाले भी जुटते। बीड़ियाँ फुँकती, चिलम सुलगती और सब शान्त से बैठे रहते जैसे मातम मनाने आये हों। गाड़ी आने के समय उठ कर चल देते। सवारियाँ कम उतरती थीं और उनसे आस लगाने वाले, आठ-दस कुली और पन्द्रह-बीस इक्केवान। इधर-उधर की गपशप होती रहती, जिसके बीच-बीच में साई की गुनी हुई बातों का पुट रहता। ऐसे जुमले होते जो सब की नज़रों में उसके दर्जे, पहुँच और रूहानी इल्म का सिक्का जमा देते।

गरीबी के मारे इन मेहनतकशों की महफ़िल में बैठकर जुम्मन साई कहता, “अल्लाह दुनिया में आदमी को अकेला भेजता है, अकेला ही वापस बुला लेता है। यह दुनियादारी तो खुद हमने-तुमने पैदा की है। मर्द-औरत के रिश्ते, औलाद, क्या रखा है इनमें? औलाद आदमी का खा जाती है। किसके लिए ये जी-तोड़ मेहनत कर रहे हो? रातों की नींद और दिन का चैन हराम है, क्या यही ज़िन्दगी है? सिर्फ़ गफ़लत है....कोल्हू के बैल की तरह चल रहे हो, चलते रहोगे। बीवी बच्चे का कोल्हू और बैल की तरह जुता हुआ बाप। बाप बनने का हौसला करते हो! बाप बन लो या खुद ज़िन्दा रह लो....”

सभी पर इन बातों का असर होता है। उनकी बुद्धिहीन गरीबी अपना जबाब पा लेती। अँधेरे में भटकते को जैसे कोई अंधा तीसरा रास्ता पकड़ा दे। पर बच्चन जब यह बात नहीं सह पाता तो कहता, “दर्द के डर से कोई नाक-कान छिदवाना नहीं छोड़ देता साई जी, बच्चे किसे भारू होते हैं।” कहते-कहते बच्चन के सामने अपने दोनों माँतृहीन लड़के घूम जाते और उसका दिल भर आता।

जुम्मन साई एक अर्थपूर्ण हँसी हँस देता, अपनी बात गिरते

देख कहता, “तुम्ही देख लो अपने रघुआ और बबुआ को, हैं किसी करम के ।”

“उनकी तो देखभाल नहीं हो पाती, महतारी होती तो भला....”

“तो नसीबन को देख लो....वह तो अपने बच्चों की माँ है, क्या हालत है ।”

“उन बच्चों के सिर से तो बाप उठ गया, फ़कीरे मियाँ ज़िन्दा होते तो क्या यही हाल होता ?”

“ये खूब कही, चित्त भी अपनी, पट भी अपनी । नसीबन से पूछो तो पता चले, कैसे-कैसे कोसती है ।”

“नसीबन से पूछना क्या साईं जी, हमसे कुछ छिपा है । चार पैसे की आमदनी होती तो शहज़ादों की तरह रखती अपने बेटों को ।”

“भोपड़ी मयस्सर नहीं, ख़ाब महलों के, शहज़ादों की तरह रखती ।”

“फ़कीरे मियाँ होते....”

“अरे तुम तो हो, फिर तुम्हारा पुराना उठना-बैठना है उसके साथ । ईद-बकरीद भर पतीली सिमझ्यों भी तो, क्या कोई ब्याहता खयाल रखेगी ! ” साईं कहता ।

“पले पलाये मिल रहे हैं....” कोई बीच से बोल उठा ।

“चाहूँ तो उन्हें भी पालना मुश्किल नहीं ।” तैश में बच्चन कहता ।

“तो रोकता कौन है, डाल लो नसीबन को घर में ।” साईं व्यंग्य से कहता ।

“एक कम बारह की पलटन....” कोई स्वर ।

और इस तरह जब बच्चन की बात का रंग बदल दिया जाता, जब साईं भी फबती कसता और उसके भीतर छुपे आदमी को नहीं पहचान पाता तो उसका दिल होता कि साईं का गला घोट दे ।

जुम्न साई की कोठरी के पास लड़कों का अखाड़ा भी आ उतरता । कोई उसकी माला के लिए पूछता, कोई छल्ला माँग बैठता । रम्भू, रघुआ, बबुआ, गंगी, सलोने के साथ-साथ बन्ने, महमूदा, नाज़िर और न जाने कितने ही होते । आपस की मार-पीट होती तो साई चीखता, “अरे कम्बख्तों, हाथ पैर टूट जायँगे ।”

बच्चे ये सुनते सो गर्मी और बढ़ जाती, दौड़-धूप तेज़ हो जाती । पिटा हुआ बदला लेने की धमकी देता हुआ चल देता । पीटने वाला शेर की तरह इठलाता हुआ चला जाता । मार-पीट अक्सर रघुआ और बन्ने में होती, क्यों कि बच्चन का लड़का रघुआ उसे भेँड़ा कहकर चिढ़ाता, उसे एक गुन ज़्यादा बताता, बात बढ़ जाती ।

एक रोज़ रघुआ बन्ने को पीटकर चला गया था । नाक से खून आ गया । घर में नसीबन ने कहा, “तू मत लड़ियो, मैं उसकी शिकायत करके बच्चन से पिटाऊँगी । तूने अगर हाथ उठाया तो कलम कर दूँगी ।” और पिट आने के बावजूद बन्ने के दो-तीन हाथ लड़ने के कारण पड़ गये । बन्ने रोता हुआ साई के पास हमदर्दी के लिए आया । साई ने रघुआ को कोसा और बन्ने को पुचकार कर चुप कराया था ।

आज बन्ने ने बदला ले लिया । बेरियों पर धावा हुआ तो रघुआ और बन्ने एक ही बेरी पर चढ़े थे । मौका देखकर बन्ने ने धक्का देकर रघुआ को पेड़ से गिरा दिया । रघुआ की खाल काँटों से छिल गयी और पैर सूज आया था । काफ़ी देर बेहोश पड़ा रह गया था । इस हरकत के बाद बन्ने भाग आया और साई की कोठरी में दुबक गया था, इस डर से कि माँ जानेगी तो खाल उधेड़ देगी । अपने किये पर उसे पश्चाताप भी हो रहा था । रघुआ की बेहोशी से वह घबरा गया था । तरह-तरह के बुरे खयाल आ रहे थे । ये सब तो उसने नहीं सोचा था । कहीं कुछ हो गया तो । साई लकड़ियाँ बीनकर जब आया तो बन्ने

का सशय बढ़ गया। साईं क्या कहेगा ? सुनेगा तो माँ से पिटवायेगा। काम भी तो ऐसा ही किया है उसने।

उसे असमंजस में पड़ा और घबराया देख साईं ने पूछा, “क्या हुआ बन्ने ?”

डर के मारे बन्ने झूठ नहीं बोल पाया। हकला-हकला के और नीची निगाह किये सब हाल बता गया तो साईं ने उसकी पीठ ठोकते हुए कहा, “शाबाश।”

बन्ने भौंचक्का-सा ताकता रह गया। साईं कह रहा था, “घबराता काहे है ? उसने भी तो तेरी नाक तोड़ दी थी, बहुत बदमाश है रघुआ। सबक मिल गया, अब नहीं हौसला करेगा।”

बन्ने तोते की तरह ताके जा रहा था, लेकिन माँ ? माँ तो कहती है, ‘ये सब तेरे भाई हैं, किसी से लड़ा तो पसली तोड़ देंगी। कोई मारे पहले मुझ से बता।’ और साईं ! साईं शायद झूठ कहता है। सन्देह से एक बार उसने फिर ताका। साईं सच कहता है।

माँ नसीबन और साईं दोनों एक साथ सामने आये। वह बुरी है, यह अच्छा है, लेकिन उसका बाल-मन कुतुबनुमा की सुई की तरह सही दिशा में खिंचता है। माँ ठीक बात कहती है, साईं गलत बोलता है।

“तू यहीं बैठ, घर जायगा तो नसीबन मार डालेगी।” साईं ने कहा, “डाइन है वह तो, किस पल जनमा था उसकी कोख से....”

जन्म लेने की मजबूरी बन्ने नहीं समझ पाता। लेकिन माँ के पास रहने की अपनी मजबूरी वह खूब समझता है। तब साईं को वह असमंजस से देखता है। जब साईं उसकी इस बात को नहीं समझ पाता तो उसके जी में कुछ आता है, बोला, “अम्मी रोएगी, यहाँ नहीं रहूँगा, मैं घर जाऊँगा।”

“तो जा, मर जाके घर....” साईं चिढ़ के कहता है।

अम्मी मार डालेगी ! अम्मी मारती नहीं, रोती है, साईं को कैसे

बताए, बता नहीं पाता, पर बुढ़ा साईं खुद क्यों नहीं समझता । और तब साईं उसे नासमझ लगता है और वह उसकी आँख चुराकर घर भाग जाता है ।

साईं कसम-परतीत से न्याय भी करता है । मियों-बीबी के झगड़े निपटा देता है । खुदा की मार का हवाला देकर छोटे-मोटे जुर्मों को कबूल करा देता है । लोगों का विश्वास है कि साईं के सामने पहुँचकर, उसकी आँख में बसी खुदाई इंसान की चमक देखकर मुजरिम खुद सब कुछ स्वीकार कर लेता है । ऐसे इंसान के मौकों पर साईं आँख बन्द करके घंटों बुदबुदाता है और तब वह मामले की सुनवायी करता है ।

उस दिन उसकी कोठरी में अगर और लोबान का धुआँ भर रहा था । एक तरफ नथुने फुलाए नसीबन बैठी थी और दूसरी तरफ सख्त बना बच्चन, दो-तीन लोग इंसान देखने की नीयत से बैठे थे ।

साईं ने आँखें खोलीं तो भरी हुई नसीबन हिकारत से बच्चन को देखती हुई चीखी, “बोल मेरे मुँह पर कह, कौन सा खजाना चुरा लाई है तेरा, जो पीठ पीछे कानाफूसी करता है । हिम्मत हो तो सामने कह, लगा इल्जाम ।”

“मैं किसी का नाम नहीं लेता, पर कुछ चाँदी की चीजें ज़रूर चोरी गयी हैं ।” बच्चन ने हिम्मत से कहा ।

“तो मैं लायी हूँ ?” नसीबन बिफरी ।

“तो और कौन उठा ले जाएगा !” गनेसी बच्चन की बात कमज़ोर पड़ती देख खुद बोल उठा, “ऐसी तो बड़ी दर्द-पीर थी रघुआ के लिए तेरे दिल में कि चार दिन पड़ी रह गयी, तू न होती तो क्या रघुआ ठीक नहीं होता ? बच्चे वाली बात, बच्चन मुँह खोल के मना नहीं कर पाया, बस घुम पड़ी गृहस्थी सँभालने ।”

“रघुआ की हड्डी न उतरती तो मैं भाँकने न जाती इस मुँह के

घर । या अल्लाह, इल्ज़ाम लगाने वाले की जुबान में कीड़े पड़ें ।” कहते कहते नसीबन रूँआँसी हो आयी थी और उसे लगा कि नाहक वह क्यों रघुआ की खातिर अपने आप दौड़ पड़ी थी । न उसकी टाँग उतरती और न वह अपने को विवश पाती । जाती तो घंटे-आध घंटे देखभाल करके लौट आती पर रघुआ तो रात में बुरी तरह चीखता था । उसी के लिए चार रात रुक गयी । नाहक लिहाफ़ फाड़कर वह दो रुपये का नोट भी उसकी दवा में लगा दिया, ऊपर से यह तोहमत । ग़लती तो मेरी है, मैं न जाती तो भी रघुआ ठीक हो जाता, बिना माँ के बच्चे भी सब भेल ही जाते हैं ।

और बच्चन अपने मन में खिसिया रहा था । नसीबन को लेकर चलने वाले व्यंग्य के तीरों से बचाव के लिए क्या यही एक रास्ता था ? खुद नसीबन से मना कर सकता था कि बेकार की अफ़वाहें उड़ती हैं, तुम न आया करो । न रघुआ की टाँग उतरती न वह आती । लोगों ने क्या कुछ समझ लिया । बच्चन पछुता रहा था कि गनेसी के मज़ाक करने पर उसने बचाव का यही तरीका क्यों ढूँढ़ा । और तरीके भी हो सकते थे । बड़ी ग़लती हो गयी ।

साई सब को देख रहा था । धीरज से बोला, “बच्चन के गहने चोरी गये हैं, इसके यहाँ तेरे सिवा कौन ईश्रया-गया नहीं । इसका शक करना बेजा नहीं ।” सुनकर बैठे लोगों की गरदनें स्वीकृति में हिल गयीं ।

“और ज़रा ज़ांम तो देखो साई बाबा, सीनाजोरी यह कि खुद जाकर बच्चन को इंसफ़ के लिए पकड़ लायी । उस बेचारे ने तो दबती जुबान मुझसे कह भर दिया और सब्र करके बैठ रहा था कि चलो हुआ सो हुआ, लड़के की सेवा की है । पर सच्ची बात सहना आदमी के लिए दूभर होता है । कल मैंने इससे कह दिया तो मेरे गले पड़ गयी....” गनेसी कह रहा था ।

कि नसीबन बीच में ही बात काटती चीखी, “क्यों न पकड़ लाती, बेईमानी की होती तो दबती । अब साईं इंसाफ़ करे, बच्चन खुद ज़बान खोल के, मुझ से आँख मिलाके कहे कि मैंने चुराये हैं, ईमान से कह दे तो जो सजा काले चोर की सो मेरी ।”

“साबित तो तेरे लच्छनों से हो रहा है । पानी मिला दूध एक आँच से उफन जाता है ।” गनेसी बाला तो बच्चन का जी हुआ कि उसे रोक दे, पर किस मुँह से ! अपनी ज़बान तो गनेसी को इत्मीनान दिलाने में काट बैठा है ।

“बोल बच्चन ! जो औरों से कहता है वह साईं के सामने कह ।” नसीबन बोली ।

“बच्चन क्या कहेगा, तू कसम खाके कहदे कि तूने नहीं लिये हैं ।” गनेसी ही बोल रहा था ।

साईं ने इस बात पर सिर हिलाया । देखकर नसीबन बिफर उठी, “मैं काहे को कसम खाऊँ ? इसका ईमान इसके साथ है । चाहे खाल खिच जाय पर इसका चुकता करके मरूँगी । जब साईं इंसाफ़ की बात नहीं कह सकता तो कौन कहेगा....”

सुनकर साईं बोला, “तुझे कसम खाने में कौन सी मुश्किल है, कर नहीं तो डर नहीं....” और वह मूँगे की माला फेरने लगा ।

और कोई चारा न देखकर वह उठी, चीखकर बोली, “तुम सब चाहे जो कुछ समझो । जो तबियत आये कहो । मैंने भी न दिखा दिया तो असील की नहीं ।” और वह अपनी ओढ़नी में मुँह दबाकर चली गयी ।

सब देखते रह गये । साईं ने अपना इल्म झूठा पड़ते देखा तो चुटकी में धूल उठाकर कुछ बुदबुदाया और फूँक मारते हुए बोला, “या तो सात दिन में कबूल कर लेगी नहीं तो खुदा के कुफ़ से यह धरती उसका यहाँ रहना दूभर कर देगी ।”

धूल उड़ जाती है

जाते हुए नसीबन ने सुना तो रुककर बोली, “धरती क्या दूभर करेगी, दूभर तो आदमी करता है। धरती नाता तोड़ती होती तो सब ज़लील कहाँ होते। अच्छे-बुरे सब जीते हैं इसी पर।”

नसीबन ने एक बार पलटकर सबकी ओर फिर देखा। किसी की आँखों में इंसाफ़ नहीं था। साईं की आँखें मुँदी थीं। तब उसका जी चाहा कि साईं की आँखों को आज ज़बरदस्ती खोल दे और उसे दिखाये कि कसम से बड़ा इंसान का ईमान होता है। वह ईमान को क्यों नहीं देख पाता ?

साईं की कोठरी पनाहगाह भी है, शिकारगाह भी। आस-पास जब कोई वारदात हो जाती है तो भागे हुए आदमी साईं के पास छुपने के लिए आते हैं, और पुलिस वाले उनकी ख़बर लेने भी आते हैं। साईं से गुनहगार भी खुश हैं, सरकारी अहलकार भी नाराज़ नहीं।

डाक बँगले में चोरी हो गयी, कोई बड़ा सरकारी अफ़सर ठहरा था। माल असबाब के साथ ज़रूरी सरकारी कागज़ात भी चले गये। स्टेशन से डाक बँगले तक लाल पगड़ी भर गयी। आस-पास भी इक्के-दुक्के छितराए हुए थे। इर्द-गिर्द रहने वाले मज़दूर पेशा पाँच-सात आदमियों को फ़ौरन हिरासत में ले लिया गया।

नसीबन हैरान थी। धूरी शाम के आँधरे में साईं की कोठरी पर बच्चन ने दस्तक दी। कई बार खटखटाया। नसीबन हाल चाल लेने के लिए उभरकी। तब तक किवाड़ा खुला और बच्चन साईं की कोठरी के भीतर था। हाल जानने के लिए नसीबन दीवार की आड़ से लगी खड़ी थी।

“मुझे ये पुलिस वाले नाइक परेशान कर रहे हैं। पकड़ लिया तो दुर्गत कर डालेंगे....” बच्चन कह रहा था। साईं ख़ामोश था।

“घर घेरे बैठे हैं, आते जाते को परखते हैं। रघुआ-बबुआ वहीं पड़े हैं अकेले....”

“तुम लोगों का क्या कसूर है, पर उन्हें कौन समझाए, तुम्हारे बारे में दीवान जी पूछ-ताछ कर रहे थे। मैंने कह दिया, और की नहीं जानता, बच्चन इन फेलाँ में नहीं है।” साई बोला था।

“मैं तो कुछ दे-दिवाके भी पिंड छुड़ाऊँ, पर कम से उनका पेट नहीं भरता, तीस-चालीस कहीं से लाऊँ। सब आँख चुरा रहे हैं।” बच्चन बोला। साई अब भी चुप था जैसे सब कुछ गुन रहा हो।

“घर पहुँचना मुश्किल है, तुम दोनों बच्चों की रात भर निगरानी कर दो, सुबह उनका कहीं और इंतजाम करवा दूँगा। दोनों यहीं कोठरी में पड़ रहेंगे, यहाँ आ जायँ तो मैं बेफिकर हो जाऊँ।” बच्चन आजिज़ी से बोला।

साई की खामोशी असमंजस से भरी थी।

नसीबन वापस अपने टट्टर में चली गयी। पता नहीं बच्चन कब और किधर चला गया। लेकिन नसीबन को नींद नहीं आयी। रात गये साई को बच्चन के ठिकाने की ओर जाते और आधे रास्ते से वापस आते उसने देखा। फिर साई एक बार भी नहीं निकला। कोठरी का न बुझने वाला दिया भी बुझ गया।

सबेरे जब साई बाहर निकला तो देखा कि नसीबन के टट्टर के बाहर बैठा रघुआ अपना तख्ती पर घुट्टा कर रहा है और बबुआ बकरी के बच्चे से उलझ रहा था।

साई अपने में सिकुड़ कर रह गया। नसीबन की हिम्मत तो देखो! चाहते हुए भी कुछ पूछने न जा सका। अपनी कोठरी की आड़ से देखता रहा। थोड़ी देर बाद नसीबन सबको मुर्गियों की तरह हॉक कर ले गयी। रघुआ और बबुआ को पाठशाले में छोड़ आयी और अपने बच्चों को मकतब तक पहुँचा कर तृप्त सी लौट आयी।

भूल उड़ जाती है

दूसरे रोज़ बच्चन का भेजा हुआ आदमी बच्चों को लेने आ गया। बच्चन ज़िला पार किसी गाँव में पहुँच गया था। बच्चों को वहीं बुलाया था। आदमी साईं के पास आया था। शाम होते वह दोनों को ले जाने वाला था। नसीबन दोनों को साईं की कोठरी में पहुँचाने आयी तो साईं आदमी से बच्चन के बारे में पूछ रहा था। चलते चलते नसीबन ने कहा, “बच्चन से कहना वापस चला आये। अपने घर मुसीबत पड़ती है तो आन घर का मुँह ताकने से बचत नहीं होती। चार दिन में सब ठीक हो जायगा।” कहकर वह चली गयी। पर थोड़ी देर बाद वापस आ गयी।

चलते वक्त आदमी के हाथ में एक छोटी सी पोटली थमाते हुए बोली, “इसे लिये जाओ।”

“अरे चबेना की कौन सी ज़रूरत है, उजरिया फैलते घर के ओसारे में होंगे।” वह आदमी बोला।

“लिये जाओ, बच्चन को दे देना,” निरपेक्ष भाव से नसीबन बोली थी।

साईं इन लोगों को छोड़ने बम्बे तक गया। वैसे न जाता पर वह पोटली उसे खटक रही थी। शायद बच्चन के ज़ेबर हों। पर कैसे देखे ? आखिर बम्बे की पुलिया से जब पगडंडी मुड़ी तो साईं ने खुद कहकर पोटली खुलवा ली। थोड़े से सत्तू थे और उनके बीच एक टुकड़े में बँधे, कई लगे गिल्ट के बीस-पच्चीस रुपये और दो-चार मलगूजे से पुराने नोट।

साईं चुपचाप वापस चला आया। नसीबन बाहर ही खड़ी थी। आते ही बोला, “नसीबन तेरा दिमाग तो नहीं चल गया।”

नसीबन चुप थी। साईं फिर बोला, “मैं भी लड़कों को ला सकता था, रख सकता था, पर कुछ दीन-ईमान भी होता है। आखिर हिन्दू

हिन्दू है। खैर ले आयी लड़कों को, गनीमत हुई कि कोई बवाल नहीं उठा। पर तूने उस पोटली में....”

“उसके काम आ जायेंगे। मजबूरी में गया है, नहीं वह भला जाता यहाँ से।” नसीबन ने बात काट कर कहा था।

“कोई अपना बिरादर होता तो एक बात भी ढूँधी....तू पगला गयी है....” कहते कहते साईं जैसे अपने को ढकने की कोशिश कर रहा था।

“मैं तो कहीं की नहीं रही साईं, न अल्लाह की, न अल्लाहवालों की। तू कम से कम खुदा का तो हो लिया।” नसीबन कह कर मुस्करा पड़ी। साईं देखकर झल्ला उठा, पर बोला नहीं।

नसीबन ने फ़रेब सूँघ लिया था। उसके जी में आया कि साईं से कहे— तू दीनवाला है, झूठ से बुज़दिल होकर इन्सान मज़हब की तरफ़ भागता है, तू बुज़दिल तो है ही, लँगड़ा भी है। तू अपने रास्ते पर भाग भी नहीं पाता। लेकिन तभी न जाने क्यों उसे साईं पर रहम आता है। चाहती है कि उसे ताक़त दे दे, ताकि वह अपने ग़लत-सही रास्ते पर चला तो जाय। पर नासमझ का चलना चलना नहीं होता। यह नासमझ साईं आख़िर क्यों कुछ नहीं समझ पाता? सोचते सोचते वह लुब्ध हो उठती है। तब से आठ साल गुज़र गये पर बच्चन नहीं लौटा। तभी से साईं रट लगाये रहता है, “सब वीरान हो गया, सब उजड़ गया....तू तो नहीं चली जायेगी कहीं।” और वह नासमझ साईं की बात या तो काट देती है या मुस्करा कर रह जाती है। ये साईं क्यों कुछ नहीं समझ पाता?....

“साईं बाबा की कोठरी यही है?” सहसा एक स्वर नसीबन के कानों में पड़ा।

नसीबन का ध्यान भंग हो गया। नसीबन ने देखा वे सात-आठ

छायाएँ उसके सामने थीं। वे नौजवान आदमी थे, आकर खड़े हो गये तो साई का ध्यान भी टूटा।

और नसीबन, जैसे आवाज़ से पहचान गयी, एकदम बोली, “अरे रघुआ, कित्ता बड़ा हो गया है !” वह एक क्षण देखती रह गयी। और पहचान हो गयी, सातों मजदूर पैर फैला-फैला कर बैठ गये। रघुआ बोला, “जरमन वालों को मजदूरों की ज़रूरत थी, हम सब यहीं काम करने आये हैं। बसने का ठिकाना....”

“मेरे साथ आओ, आओ तो,” कहती हुई नसीबन उन लोगों को उठाकर ले गयी और बड़े भरे दिल से बताने लगी, “देख महमूदा ! यह तेरी कोठरी है, इसी में तेरा अन्बा सूप बनाया करता था और तू नंग-धड़ंग घूमता था। और यह घर नाज़िर तुझसे ही आबाद था, सात भाइयों में तू ही अकेला बचा था। कितनी मन्नतें मानती थी तेरी बुदिया माँ। बुढ़ापे की औलाद था न।” यह सुनकर सब हँस पड़े। नसीबन अपनी आँखों के आँसू पोछकर फिर बोली, “ये तो खंडहर हो गये....”

“बसना है तो बनते कितनी देर लगती है !” नाज़िर ने कहा।

“रात पेड़ के नीचे काट लो बेटा....बोरे मैं लाये देती हूँ।” नसीबन ने कहा और बोरे लेने चली गयी। और नसीबन के जवान बेटे अपने घरों के आस-पास खड़े रहे। बोरे के इन्तज़ार में।

बड़ी आँधी आयी रात, धूल उड़ती रही और सुबह तक के लिए रात वहीं पेड़ के नीचे कट गयी।

सुबह को सपना

बात असल में यों हुई। उन दिनों शहर में प्रदर्शनी चल रही थी। जाने की कभी तबियत न हुई। 'आखिर एक दिन 'मेरे मित्र मुझे घर से पकड़ ले गये। शायद आखिरी दिन था उसका। चला गया, पर ऐसे जमघटों में अब मन नहीं जमता। वे ही चिर-पहचाने चेहरे....वही मस्ती और दिखावटी लापरवाही, जो नुमायश में घूमते वक्त लोगों पर आ जाती है। उसे खूब देख चुका हूँ; देखते-देखते अभ्यस्त हो गया हूँ। सब कुछ साधारण हो गया है। इस नुमायशी ज़िन्दगी में कोई उतार-चढ़ाव नहीं देखता, सो जाकर सीधा एक पुस्तक-भण्डार पर खड़ा हो गया। मित्र कुछ अंग्रेज़ी की पुस्तकें उलटने-पलटने लगे। मैंने सामने रखी एक पत्रिका उठा ली, उसे खोलने ही जा रहा था कि मित्र ने फुसफुसाकर कहा, "वाह-वाह क्या चीज़ है !"

मैंने उनकी पसन्दभरी आँखों की ओर देखा, तो जैसे पानी को दिशा मिल जाती है, वैसे ही मेरी दृष्टि अनायास उधर घूम गयी, जिधर वे देख रहे थे। वह एक कलेण्डर था, जिसमें दो स्वस्थ बच्चे, रुई-सा सफ़ेद कबूतर पकड़े थे। मन आप से आप खिल उठा। उन बच्चों की सारी मासूमियत और कोमलता जैसे हृदय में उतर गयी। लगता था अभी यह लड़का अपने दोनों हाथों को झटका देकर कबूतर

को आकाश की ओर छोड़ देगा। फिर दोनों—लड़का और लड़की—खिलखिला कर हँस उठेंगे। और तब इनकी आँखें और भी छोटी हो जायँगी। गालों पर लाली दौड़ जायगी।

“वी लव पीस,” मित्र बड़बड़ाया। ध्यान भंग हो गया। तस्वीर के नीचे दृष्टि रुकी। उन अक्षरों पर पड़ी जो मित्र ने पढ़े थे—‘हमें शान्ति प्यारी है।’ मेरा मन फिर भटक गया। शान्ति की बातें भी बहुत नयी न रह गयी थीं। तस्वीर में एक अजीब सी ताज़गी ज़रूर थी।

मैंने जो पत्रिका उठायी थी, उसे देखने लगा। ऊपर किसी वन खण्ड का सुरम्य दृश्य छपा था। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर। और पलटा—गदराई फ़सलों की भूमती हुई बालियों की तस्वीरें थीं। फिर कुछ सुख-विलास की वस्तुओं के चित्र और उनके विज्ञापन। आगे कुछ आलीशान इमारतों के फ़ोटो और उसके बाद युद्धस्थल की भयंकर तस्वीरें! बारूद के उठते हुए गुबार, चील की तरह उड़ते हुए हवाईजहाज़, धराशायी इमारतें, उजड़े हुए खेत, जिनमें सैनिक संगीनों आगे किये, फ़सल रौंदते बड़े जा रहे थे। वे भी अच्छे नहीं लगे। पत्रिका बन्द कर दी। अन्तिम कवर का दृश्य फिर सामने था—युद्ध का महाभयंकर दृश्य। तबियत अकुला उठी। सैनिकों की लाशों के ढेर, कटे हुए हाथ और टाँगें! धरती की सतह से पृष्ठभूमि में उठता हुआ धुएँ का समुद्र। जैसे धरती के नीचे दबे किसी सुप्त ज्वालामुखी ने मुँह खोल दिया हो, अभी धुआँ है, फिर लावा बह निकलेगा और....और इस बची हुई कुचली-त्रस्त घास और कटे-पंगु शरीरों को भी ढक लेगा!

मित्र ने कहा, “चलो।”

मैं चल दिया।

नुमायश से कुछ तो ख़रीदना चाहिए, इसीलिए उसने औरों की

देखादेखी एक बहुत बड़ा-सा गुब्बारा खरोद कर मेरे हाथ में थमा दिया था। मुझे हँसी आ गयी कि क्या खरीदारी का दिखावा जरूरी था ? वह अपनी साइकिल पर चढ़कर चला गया। गुब्बारा मेरे पास ही रह गया।

टहलता हुआ घर पहुँचा तो रात काफ़ी जा चुकी थी। विचारों का कोई मज़बूत सिलसिला नहीं था। जब कुछ समझ में नहीं आया तो उस गुब्बारे को ही सीने पर रखकर उँगलियों से धीरे-धीरे बजाकर तुप....तुप....की आवाज़ पैदा करता रहा। गुब्बारे से कुछ हल्की बदबू आ रही थी, जैसे कोई विषैली गैस।

धीरे-धीरे मैं उस तुप....तुप....की आवाज़ में डूबता गया। एक अजीब मधुर संगीत था उसमें। बस केवल संगीत रह गया—और मैंने देखा, एक टिन के खाली डिब्बे पर दो नन्हें-नन्हें हाथ थापें दे रहे थे। वह मेरे पड़ोस की बेबी थी। अपनी गुदारी हथेलियों से उस डिब्बे को बजा रही थी। अनोखा समों बाँध रक्खा था उसने। बड़ी मौज में बजाये जा रही थी, तभी रानी आकर उससे बोली, “बुलउआ तो दे आयी।”

अपनी ढोलक बजाना छोड़ बेबी बोली, “तब तो मेहमान आते होंगे, मेरी गुड़िया नहाई भी नहीं।”

रानी बोली, “नहीं, पहले घर की सफ़ाई कर लो।”

बेबी ने परेशानी दिखाते हुए कहा, “तुम्हें क्या, तुम लड़के वाली बन कर बैठ गयीं, हमें हजार काम हैं, लड़की का ब्याह है, घर की सफ़ाई-दावत....सभी तो अकेले करना है।” और इतना कहकर चप्पल वाले दफ़्ती के डिब्बे से गुड़िया की साड़ी निकालने लगी। एक रेशमी कतरन दिखाते हुए बोली, “ये गुड़िया की बनारसी साड़ी है, सितारेदार।”

“मैंने तो गुड्डे के कपड़े दिल्ली से मँगवाए हैं ।” रानी ने शान दिखाते हुए कहा ।

“बहुत कुछ,” बेबी डींग सुनकर बड़बड़ाई, “राधा की अम्मा की गठरी में से चुराये हैं । हमने देखा था ।” और बेबी ने रानी की तरफ मुँह बिचका दिया ।

“हमने तो माँगे थे, तू चोटिन है, तूने राधा की पेंसिल चुराई थी....चोटिन....चोटिन ।” रानी ने बेबी की पोल खोलते हुए ताली बजाकर कहा ।

बेबी ने तैश में आकर रानी के कपड़ों का डिब्बा फेंक दिया, भल्लाकर बोली, “हम नहीं खेलते, तू चोर....गुड्डा चोर....गुड्डे के घर वाले चोर ।”

रानी ने कपड़े बटोरते हुए समझदारी से कहा, “ऐसे हम नहीं खेलते ।”

....फिर न जाने क्या, जैसे जल में पड़ती परछाइयाँ हिलकर मिट गयी हों । कुछ हलचल । अजीब-सा शोर, जिसमें वे स्वर डूब गये थे, दृश्य धुँधले पड़ने लगे । कुहरा-सा छाने लगा । उस कुहरे के बीच से सिर्फ रानी का मुख दिखायी दिया । वह कह रही थी, “बेबी खेलो न ।”

“सच्ची सच्ची बोलो तो खेलूँगी....हूँ....।” बेबी ने उठाय़ा हुआ सामान ज़मीन पर रखते हुए कहा ।

“अच्छा भाई सच्ची सच्ची, गुड्डे के कपड़े दिल्ली से नहीं, यहीं से खरीदे थे, बस !” रानी ने समझौता कर लिया ।

दोनों दफ्ती के बनाये घरों के पास बैठ गयीं । एक दूसरे के सहारे खड़े थे दोनों के घर । बस, दोनों की सीमाएँ नीम की सीकें रखकर अलग कर ली गयी थीं । रानी के घर की चौखट से लगा

गुड्डा खड़ा था, पर बेबी की गुड़िया शरम के मारे घर के भीतर बैठी थी। दियलियों का बना तराजू एक ओर रखा था और पालकी मकान के पीछे पड़ी थी। रानी के घर के सामने टीन की मोटर बारात के लिए तैयार थी।

“बहू जरा खाना देख लेतीं।” बेबी खुद बोली और स्त्रयं ही जवाब भी दे दिया, “अच्छा भाई आयी, फुरसत मिले तब तो, एक काम हो।” फिर रानी के घर सब तैयारी देखकर बोली, “रानी, धीरे-धीरे करो भाई, तुम तो जल्दी मचाए हो।”

“अरे अभी बारात चल थोड़े ही रही है।” रानी ने कहा।

“हमने नहाया तक नहीं, चलो नहा लें।” बेबी ने कहा और थोड़ा खिसक कर बैठ गयी।

दोनों नहाने लगीं। सिर पर हाथ ले जाकर गुदगुदी-सी बाँह मुड़ी और जैसे कलाई मुड़ते ही मुट्ठी से पानी गिर गया...शू...शू की आवाज़....और दोनों हाथ-पैर रगड़ने लगीं। नहाना खत्म हुआ तो कपड़े बदले। पैर तक दोनों हाथ गये, फिर कमर पर आकर हवा में गाँठ लगायी। कन्धे पर इधर उधर हाथ चलाकर दुपट्टा डाला और दोनों तैयार हो गयीं। अब रानी का गुड्डा भी तैयार था। बेबी की गुड़िया भी तैयार थी। पर बेबी खाना बनाने में लगी थी। मिट्टी की पूरी, कचौरी, लड्डू और बरफी।

रानी के घर बैण्ड बज उठा। रानी मुँह में कागज़ की तुरही लगाये आवाज़ करती जा रही थी। बीच-बीच में भूमती हुई बोलती, “कुड़म कुड़म की भइयम-भइयम....” और बेबी भी अपने घर बैठी मुस्करा-मुस्करा कर दूल्हे के घर के बाजों की आवाज़ पर मटकती जा रही थी।

....पर बाजों की आवाज़ एकदम तेज़ हो गयी....गड़गड़ाहट में

बदल गयी....घोर गर्जन । विषैली-सी महक उड़ने लगी और धुएँ के गहरे बादल चारों तरफ उभरने लगे । हवाई जहाजों की गन्नाहट और भगदड़ का मिला-जुला शोर । दूर खड़ी फसलों को रौंदकर बढ़ते हुए खूँखार सिपाहियों के दस्ते....वर्दी धारी....भारी बूट और बन्दूकों में लगी संगीनें । क्षण भर में ही वे सारे सिपाही अपनी लाल लाल आँखें चमकाते, नथुने फड़काते एकाकार हो गये । वह सिर्फ एक सैनिक था । दैत्य की तरह ! जमीन पर टैंकों की तरह बड़े-बड़े पैर गड़ाए आसमान तक की ऊँचाई में खड़ा था । उसकी आँखों में ज्वालामुखी थे, नथुनों से विषैले धुएँ के गुब्बार निकल रहे थे । फिर वह चला और आगे बढ़ते-बढ़ते उसका आकार छोटा होता गया, वह सादा-सा आदमी रह गया । अरे, यह तो जैकब साहब का लड़का था । वह कमर पर हाथ रखे बहुत तेज़ नज़रों से इधर-उधर पेड़ की शाखों को देख रहा था । जिधर किसी पत्ती के उड़ने की सरसराहट सुनायी पड़ती, उधर ही उसकी नज़र घूम जाती । इस पेड़ से उस पेड़, जैसे कोई पत्ती खो गया हो । आखिर उसकी दृष्टि कोठी के रोशनदान और कार्निश की मेड़ के बीच बैठे एक जंगली कबूतर पर पड़ी । बहुत तेज़ नज़रों से उसने उसे देखा । रानी और बेबी भी सकपकाई-सी उसे देख रही थीं । उसने अपनी चौड़ी पेट्टी को थोड़ा कमर पर कसा और कोठी के भीतर चला गया ।

रानी ने एक सन्देह भरी दृष्टि बेबी की ओर डाली । बेबी ने जैसे सब कुछ समझते हुए चुपचाप खामोश नज़रों से उत्तर दे दिया । दोनों की दृष्टि कार्निश की मेड़ और रोशनदान के बीच बैठे उस जंगली कबूतर पर टिक गयी जो बैठा सुस्ता रहा था—सिलेटी-सा नरम पंखदार पत्ती, रेशम से पंख, सेमल की रुई-से नरम और चिकने । बेबी और रानी असमंजस भरी दृष्टि से ताकती रहीं । वह कबूतर आँखें बन्द कर लेता तो ज्वार के दाने की तरह सफेदी चमक उठती ।

दोनों ने उधर ताका जिधर कोठी में वह आदमी घुस गया था। वहाँ कोई नहीं था। उन्होंने फिर अपना खेल शुरू कर दिया। रानी ने टीन की कार में गुड्डे को बैठाया। घुर्र-घुर्र की आवाज़ के बाद कार चल पड़ी। बेबी और रानी दोनों, मुँह से कागज़ की फुकनियों बजा रही थीं। इधर-उधर घुमाकर कार गुड़िया के दरवाज़े पर खड़ी कर दी गयी। रौनक छा गयी। फूल बरसाये गये। बाजे बजे। आखिर नौशा को कार से उतार कर लड़की के दरवाज़े पर बिछी दियासलाई की खाट पर बैठा दिया गया। क्षण भर में भाँवरें पड़ीं। ढोलक टुनकी। रानी ने जल्दी मचायी। बोली, “भाई जल्दी करो, नहीं तो गाड़ी छूट जायगी।”

बेबी बनारसी साड़ी तह कर रही थी। पालकी बाहर आ गयी। रानी ने उस पर रेशमी ओढ़नी डाल दी। काफ़ी फुर्ती से तैयारी हो रही थी। दूल्हा बाहर दियासलाई के पलंग पर दीवार से टेक लगाये खड़ा था।

तभी उधर बूटों की आवाज़ हुई। आहट सुनकर रानी सतर्क हो गयी। उन्होंने कबूतर की तरफ देखा। रानी बोली, “डेला मार दो।”

“हाँ हाँ, मार दो, जल्दी से,” बेबी ने खड़े होते हुए फुर्ती से कहा, “बहुत जल्दी, जल्दी।” और रानी ने अपनी बाँह पीछे करके एक डेला कबूतर की तरफ फेंका। जैकब साहब का लड़का निशाना लगा रहा था। वह कंकड़ रोशनदान की लकड़ी पर भट से लगा। कबूतर ने गर्दन घुमायी और हल्की सरसराहट के साथ उड़ चला।

रानी और बेबी कूदती हुई तालियाँ बजा-बजाकर शोर मचा रही थीं, “कित्ता अच्छा हुआ....हो....हो।” उनकी तालियों में अजीब-सा संगीत था। उनके थिरकते पैरों में अनोखी लय थी।

इधर जैकब साहब का लड़का आग्नेय नेत्रों से इनको ताक रहा

था। गुस्से से उसकी आँखों में आग-सी दहक उठी, नथुने फूल उठे। उसने जलती आँखों से दोनों को देखा। वे हँस रही थीं। शोर मचा रही थीं। तालियाँ पीटे जा रही थीं। खामोश करने के लिए उसने अपनी रायफल से उधर ऊपर की ओर हवाई फायर कर दिया। रानी और बेबी सहर्ष, दोनों ने एक दूसरे की बाहें भीच लीं तो जैसे साहस आ गया, अपार साहस !

धड़ाके की गूँज हुई और जैसे सब कुछ बदल गया। जैकब का लड़का खो गया था। एक क्षण को वही राजसी रूप उभरा....धुएँ के बादल उमड़े और सब शान्त हो गया....चारों ओर से हँसी की हल्की खिलखिलाहट की आवाज़ आ रही थी।

मेरी साँस की रफ़्तार बहुत तेज़ हो गयी थी। नाक में विषैली गैस की महक भर रही थी।

क्षण भर बाद ही चौंक कर मेरी आँखें खुल गयीं। देखा, वह बड़ा सा गुब्बारा फूट गया था, उसकी खाल मेरे पंजे में थी और उसमें से बदबू आ रही थी। मुस्करा कर रह गया। सुबह काफ़ी निखर आयी थी।

“हाइड्रोजन बम पर प्रतिबन्ध की माँग ! आज की ताज़ी ख़बर !” चीखता हुआ अख़बार वाला नीचे सड़क से गुज़र रहा था।

मुद्दों की दुनिया

गर्मी शुरू हो गयी थी। मोटर के अड्डे के सामने वाले कुएँ पर पिआऊ बैठा दिया गया था। नरायन पंडित चौड़े मुँह के चार-पाँच मटके धरे, इटों के पक्खे पर सागर रखे, बल्ली की खपाँच की नाली बनाये, सागर से पानी उँडेलते रहते और प्यासे आ-आकर, नीचे पड़ी पटिया पर घुटने मोड़ कर, चुल्लू से पानी पीते और चले जाते। सामने इमली के भारी-भरकम पेड़ तले दो-तीन मोटरें खड़ी रहतीं, जिनमें से एक-आध की मरम्मत होती रहती।

एटा कुरवली का अड्डा कहलाता है यह ! कुछ पत्थर वालों की दुकानें यहाँ हैं, जो दिन भर लाल-लाल पत्थरों पर छैनियों घिसते और पत्थर को चक्की, सिल या लोढ़े की शकलें प्रदान करते रहते। मोटरों के क्लीनर और ड्राइवर या तो इमली की छोंह में पड़े सोते, या मोटर की मोटी-मोटी गद्दियाँ बिछा कर, जोड़-पत्ता खेलने में मशगूल रहते।

मोटर छूटे काफ़ी देर हो चुकी थी; इसलिए सब कुछ शान्त-सा था। नरायन पंडित ने 'हे राम' कहते हुए जमहाई ली, जिसमें शब्द बिगड़ कर 'हराम' हो गया। जोड़-पत्ता खेलने वाला जमघट अपनी चालो में डूबा हुआ था। तख्त पर उकड़ू बैठे, जालीदार बानयान पहने निसार के कानों में पंडित की आवाज़ पड़ी तो एकदम अपने

बकरे को छनबिछिया खिलाते-खिलाते रुक कर बोल पड़ा, “एक फंकी और लगे महाराज ! लाओ, ज़रा हम भी देखें तुम्हारी ओंछा की तमाखू। चूना-बूना है ढिबिया में कि चाट गये ?”

“तुम तो अपनी लीदा तमाखू खाओ भरमुँह, यह भला तुम्हारे मुँह लगेगी ! कहाँ इस तमाखू की एक चुटकी और कहाँ सुरसा-सा तुम्हारा मुँह ! ऊँट के मुँह में जीरा....” कह कर नरायन पंडित हथेली पर रखी तमाखू रगड़ने लगे ।

“वाह रे महाराज ! बस अंगुल भर का करेजा है तुम्हारा; ज़रा-सी तमाखू में घिस्सा दे गये !” निसार ने कहा और अपने तहमद को घुटने तक सरका कर, बकरे को छनबिछिया खिलाने में उलभ गया ।

तभी कंकड़ की सड़क के किनारे गद्दे-जैसी नरम और बेहद गरम भुलभुल को पार करके आते हुए ठेकेदार ने पूछा, “कुरावली वाली लारी कब तक आयेगी, निसार मियाँ ?”

निसार ने खड़ी नज़र से ठेकेदार को ताका और छनबिछिया की फली तोड़ने लगा, जो चौंदा के रौनों की तरह झनझना उठी ।

“बताया नहीं तुमने, कब तक आयेगी ?” ठेकेदार ने फिर पूछा ।

“यों पूछो न, यह मियाँ-वियाँ क्या जोड़ देते हो ?” निसार ने जवाब दिया और फिर जैसे खुद से कहने लगा, “भला बताइए, क्या दस्तूर है !” फिर उसकी तरफ़ नज़र घुमा कर बोला, “अब आने वाली है घंटे आध घंटे में, क्यों, कोई आने वाला है क्या ?”

“हाँ ।” कह कर ठेकेदार पिआऊ की ओर बढ़ गया ।

निसार ने अपने बकरे के पुटूँ सहालाये और पिछली टोंगों को दबाने लगा । फिर पुचकारते हुए, बड़े प्यार से उसकी जाँघ पर एक थपकी दी । बड़ा निराला बकरा था नूर, यही नाम था उसका । बाँकी चाल और नन्हें-नन्हें सियाह खुर, जिन पर इस तगड़ी और भरी हुई

काठा का भार; जैसे पुराने ज़माने की कोई तन्दुरुस्त चीनी लड़की ।

निसार ने गर्व से नूर को देखा और बकरे ने अपनी गर्दन में कड़ापन लाते हुए ऐसे सर उठाया, जैसे बबर शेर हो । उसकी चमकती काली पुतलियाँ और मेढ़े की तरह छल्लेदार सुडौल सींग, दूधिया बाल ! उसकी गर्दन को बाँहों में भरते हुए निसार गद्गद्-सा बोल पड़ा, “जिअो मेरे शेर, मर्द बच्चे !”

तभी इमली के नीचे जमी महफ़िल में झगड़ा हो गया । राजाराम कुछ कह चुका था । नाथूसिंह ड्राइवर झपटते हुए चीखता जा रहा था, “बेईमान बनाता है और ऊपर से गाली, खून पी....!” सब खेल छोड़ कर बीच में पड़ गये । ताश के पत्ते इधर-उधर बिखर गये, रेज़गारी अपनी जगह पड़ी थी ।

“अब देख लो, मैंने कोई तू-तड़ाक, गाली-गुप्तारी की थी, जो हाथापाई पर उतर आये ?” राजाराम एक तगड़े ड्राइवर की ओट छिपते हुए कह रहा था ।

तभी निसार चीख उठा, “औरत की तरह क्या मिमियाता है बे, मर्द की तरह बोल ! बेईमान ठहराता है, तो डुकता क्यों है ज़नानों की तरह ?”

निसार की ललकार ने काम किया; सब खामोश हो गये, और दूर चिलचिलाती सड़क पर धूल का अंबार उड़ाती, मोटर आती दिखाई पड़ी ।

अड्डे पर हलचल मच गयी । चुस्की बर्फ़ वालों ने अपने-अपने ठेले पटरी पर लगाने शुरू कर दिये । बर्फ़ की सिल्ली पर छैनियाँ बज उठीं और बुरादा धो कर बर्फ़ रन्दे पर रख ली गयी । कपड़े का गत्ता निचोड़ कर बर्फ़ के माथे पर पट्टी-सी चढ़ा दी । सोडावाटर की बोतलों पर पानी छिड़क कर ताज़ा कर दिया । हर तरफ़ रौनक आ गयी थी ।

खड़खड़ाती-गुराती लारी आ कर रुकी। धूल में बिलकुल ढँकी। सवारियों कपड़े भाड़ते उतरीं। गाँव के लांग मोटी-मोटी फतोई पहने, तेल से चिकनी लाठी ढकड़े, उसी में खाने की छोटी-सी गठरी लटकाए। आखिर वह भी भीड़ में सट कर ही निकली।

“साबित्तरी आ गयी! ललुआ नहीं साथ आया?” ठेकेदार ने अपनी लड़की के पास जाते हुए पूछा।

निसार की आँखें साबित्तरी पर जा टिकीं! एक मिनट देखता रह गया। भरा हुआ शरीर, आसत औरत से काफी लम्बी और तगड़ी, उठी हुई नाक, कस कर बाँधे हुए बाल, दाँतों की दरार में मिस्सी की लकीरें, पुष्ट कलाई में रंगीन चूड़ियाँ, भरी हुए हथेली। पास खड़े क्लीनरों में फुसफुसाहट हुई, आपस में फ़वतियाँ कसी गयीं। उसके बदन को देख कर बर्फ़ वालों ने उसकी पसन्द की पहचान की और चिल्लाने लगे, “सोडा-लेमन, नींबू का शर्बत.... ठंडा बरेफ़!”

निसार की नज़रों से प्रशंसा भाँक उठी। उसने टूलबक्स से अपना बेल कढ़ा कुरता निकाला और पहन कर बाँहें समेटने लगा। ठेकेदार साबित्तरी का टीन का बक्सा उठा कर चलने लगा, तो निसार ने टोका, “ज़रा ठंडे हाँ लेते, ठेकेदार! धूप में कब से परेशान घूम रहे थे!”

साबित्तरी ने निसार को देखा, और ठोस कदम रखती हुई बढ़ने लगी। निसार पीछे से देखता रह गया—साबित्तरी की मर्दानी चाल, कंकड़ की ऊँची-नीची सड़क पर पड़ने वाले उसके जमे हुए कदम, जिनसे मानो उभरे कंकड़ दब रहे हों।

धीरे धीरे सब खामोश हो गया। धूल के गद्दे में फँसे पहियों को निकालती और पेट्रोल की गंध छोड़ती, आयी हुई लारी स्टार्ट हाँक इमली तले खड़ी हो गयी। जाने वाली लारी उस जगह लग गयी

भराई शुरू हो गयी थी। मोटर का हार्न और निसार की आवाज़ एक के बाद एक गूँज उठती। वह चीख रहा था, “एटा कुरावली ! एटा कुरावली !” उसका गला सूख गया, पिआऊ के पास कीचड़ में लेटे, हाँफते मरियल कुत्तों को खदेड़ता हुआ, वह पानी की धार के सामने झुक गया।

“यह मेहरारू सायद ठेकेदार की ब्रिटिया थी।” पानी पिलाते हुए पंडित ने जैसे कुछ याद करते हुए कहा, “तीन बरस पहले बेवा हुई थी। हमारे गाँव से चार कोस पर ससुराल है इसकी।”

निसार को ग़ौर से सुनते देख, वह कहता गया, “इसी के पीछे इसके आदमी का क़तल हुआ; पर रौआ तक न छू पाया कोई, बड़ी मर्दानी है !”

शाम को अपने बकरे का लिये निसार अपनी कोठरी की तरफ़ चला तो नुक्कड़ पर ठेकेदार के छप्पर में बकरी देख कर रुक गया। साबित्तरी का ध्यान आते ही चलने लगा, देखा साबित्तरी उसे खड़ा देख चुकी है, वह बकरी के लिए पीपल के पत्ते डालने उधर ही आ रही थी। सकपका कर निसार पूछ बैठा, “यह बकरी कब खरीदी ठेकेदार ने ?”

साबित्तरी ने उसकी ओर देखा, तो न जाने कैसी मुद्रा बन गयी, चेहरे का हर हिस्सा सिकुड़ा और फैल गया। फिर जैसे उसकी बात को अहमियत न देते हुए, बोली, “अभी साल-भर से बड़ी नहीं मालूम पड़ती।” और उसने बकरी का ओंठ मोड़ कर कच्चे दानों की तरह उसके मटे हुए दाँत खोल दिये, और उसका मुँह निसार की तरफ़ करते हुए वह बोली, “क्यों, है न ?”

निसार को जैसे पैर जमाने का मौक़ा मिल गया हो, झट आगे बढ़ कर निकट पहुँचते हुए उसने बकरी के दूधिया दाँतों पर पारखी की

तरह आँखें गड़ा दीं। फिर तो सिलसिला चल निकला। अपने बकरे के बारे में सब कुछ साबित्तरी को सुना गया। साबित्तरी बोली, “बकरा पालने से क्या फायदा? अरे, कोई कसाई पचास-साठ दे देगा; बकरी पालते तो जिसमें पर चिकनाई आती!”

“अकेले फक्कड़ के घर कौन खटराग करे, इस नूर को मैंने बेचने के लिए नहीं पाला है। अरे, मर्द बच्चा है, दिन-भर साथ तो रहता है।” निसार ने कहा।

काफ़ी देर बातें चलती रहीं। ठेकेदार भी आ गया था। उस रात जब निसार घर लौटा, तब साबित्तरी उसके लिए नयी न रह गयी थी। और वह सोच रहा था—‘बस, एक ही औरत है, हजारों में एक! बात करती है तो आज़ादी से, चलने-फिरने तक में लापरवाह खुलापन है!’

इसके बाद रोज़ ही वह अपने नम्बर की गाड़ी भर कर और अपने कमीशन के पैसे ले कर साबित्तरी के पास आ बैठता। सिर्फ़ साबित्तरी होती। कभी-कभी कुछ लोग और आ जाते, जिनसे साबित्तरी की जान-पहचान हो चुकी थी। निसार और साबित्तरी के बारे में कुछ लोग फुसफुसाने लगे थे। उस दिन दोपहर में निसार छप्पर का टट्टर लगाए उसके पास बैठा था। लू काफ़ी तेज़ी से चल रही थी। गर्मी बहुत थी। साबित्तरी एक हल्की-पुरानी धोती पहने पास बैठी अपनी फतोई में बटन टॉक रही थी। निसार गहरी नज़रों से उसको देखता और उसकी आँखों की चमक बढ़ जाती। आखिर उससे न रहा गया और उसने साबित्तरी का हाथ पकड़ कर, बाँह ज़मीन पर टिका दी, और अपने हाथों की उँगलियों को ऐसे फैला कर, जैसे गला घोटने के लिए हाथ उठे हों, साबित्तरी की बाँह के इर्द-गिर्द उँगलियाँ लपेट दीं। सामने दोनों अँगूठे सींग की तरह निकले रह गये, तो बोला, “हूँ, मैं तो

समझता था कि तुम्हारी बाँह कम-से-कम दो बालिशत तो मोटी होगी, यह तो आधी भी नहीं निकली ! बाँह पर गोश्त है कि मड़ा हुआ आटा....बिलकुल थल-थल !”

साबित्तरी जैसे गुन्नाई हो, बोली, “मेरी बाँह से तुम्हें मतलब, लोहा है तो, आटा है तो !” और फिर कुछ सोच कर हँस पड़ी और हँसती रही । निसार भौंहे टेढ़ी किए ताकता रहा ।

तभी टट्टर खिसका कर गोरख भीतर आया । सकुचाया, भेंपा भी, पर जैसे कुछ पकड़ पा गया हो, व्यंग्य से मुस्करा कर आँखें गोल करते हुए और निसार को ताकते हुए बोला, “शायद ठेकेदार नहीं हैं !”

निसार अपने हाथ साबित्तरी की बाँह पर से हटा चुका था, पर उँगलियाँ जैसे थरथरा गयी थीं । साबित्तरी ने पैर-सरकाया तो एकदम रुक गयी । निसार से बोली, “अरे, ज़रा पैर की उँगली खींचना, एकदम नस चढ़ गयी सायद ।” फिर अपने आप पैर भटकते हुए ठीक हो कर बैठ गयी । गोरख ने निसार को चिढ़ाने के स्वर में कहा, “अरे मियाँ, वह तुम्हारा चरकटा बच्चन अड्डे पर तुम्हें खोज रहा था क्या बात है आजकल, तुम्हारे पैसे से तो उसकी पहलवानी चल रही है, और तुम भी सब वसूल कर लेते....” कहते-कहते गोरख ने कनखी से साबित्तरी को देखा और बात अधूरी छोड़ दी । फिर वह चढ़ते-उतरते रंगों से तबदील होते निसार के चेहरे को देखने लगा । साबित्तरी ने सब सुना । वह बारी-बारी से निसार और गोरख की तरफ़ उत्कंठा भरी दृष्टि से देख रही थी ।

निसार एकदम अपना तहमद सँभालते हुए उठ कर खड़ा हो गया । उसके सीने में कोई चीज़ फूल रही थी । आँठ चबाते हुए चलने लगा तो न रहा गया । शायद इस तरह चल देना कोई कमज़ोरी समझ ली जाय । साबित्तरी तो जैसे उसके दिमाग़ से उतर चुकी थी; बोला, “क्या बाहियात खयालात हैं तुम लोगों के ! बच्चन हज़ार में

एक मर्द है, पैसे से बेचारा कमज़ोर पड़ता था, पहलवानी के लिए खातिब चाहिए, खातिब ! है कोई कस्बे-भर में उस-सा जवान पड़ा ?”

गोरख ने व्यंग्य से हँस कर दिया; साबित्तरी गम्भीर थी। निसार अपने बकरे नूर की डोरी खोलने लगा, तो साबित्तरी बोली, “जब हफ़्ते भर से यहाँ रहा है तो बँधा रहने दो, कोई आज की धूप में ही नहीं मर जायगा !”

वह चुपचाप नीचे उतर गया। उतारी हुई बनियाइन भी लेना भूल गया। साबित्तरी ने उसकी मैली जालीदार बनियाइन एक ओर सरका दी, देख कर गोरख बोला, “साबित्तरी, कितनी सरम की बात है, एक मुसलमान मलिच्छ की लहदी छूना, और फिर कौन नहीं जानता निसार के करम ! मोटर का एजन्ट है, कोई इज्जत का पेशा है ? दिन-भर चरकटों के पीछे पड़ा रहता है, वे सब उसके यार-दोस्त हैं। आखाड़े के लफंगे लड़के दिन भर साथ लगे रहते हैं। फकहम है, सो सब उन्हीं पर फूँकता रहता है।”

साबित्तरी बोली, “हुआ करे, हमसे क्या, बैठता है यहाँ, कौन-सा सोना चुरा ले जाता है। बस बैठकबाज़ है वह, पैसे पर ध्यान नहीं देता, दिन-भर गप्पें हाँकेगा। गामा, रुस्तम और अंग्रेज़ी पहलवानों की बातें करेगा, इधर-उधर के किस्से सुनाएगा या नूर को ही अरहर खिलाता रहेगा, बस !” पर इतना कहते हुए साबित्तरी अपना ही सम्मान बचाने की अधिक चेष्टा कर रही थी।

गोरख उसके इसी भाव को न सह सका, कहने लगा, “देखना है, कब तक चलेगी निसार की यह नबाबी ! आडर हो गया है, अगले महीने से सरकारी मोटरें इस लाइन पर चलेंगी। और महीना ख़तम होने में हफ़्ता भर तो रह गया है। तब देखना है, निसार की जालीदार बनियाइन, चरकटों का खातिब और बकरे की हरी अरहर !”

और साबित्तरी। अपने में सोच रही थी—वैसे निसार चाहे जो हो, पर इतने दिन हुए यहाँ बैठते, कोई वैसी बात नहीं दिखाई दी, आज बाँह भी पकड़ी, तो ताकत देखने के लिए, जैसे बदन से और कोई मतलब नहीं। नूर को रोज़ चार मील दौड़ाता है, हाँफते हुए सुबह लौटा था तो बाँधते हुए कह रहा था—दौड़ाऊँ न तो चरबी चढ़ जायगी इस पर। फिर किस काम का रह जायगा। ताकत और चरबी के मोटापे में बड़ा फ़र्क होता है साबित्तरी—बहुत साफ़ बात कहता है।

और अड़्डे पर बैठा निसार खयालों में डूबा था—साबित्तरी के पास दिन भर के साथ के लिए जाता हूँ, उसमें ताज़गी जो है, चुस्ती और अकड़ जो है, बदन की अकड़ ! इन सब डिराइवरों और किलीनरों का जोश-ख़रोश तो दारू का है, चरस-अफ़्रीम का है, मिनट-दो मिनट रहता है; बरसाती नदी से उफनते हैं फिर नाली से बहने लगते हैं। सुबह का वक़्त तो अखाड़े पर कट जाता है। बच्चन के पुट्टे और शेर-सी कमर, ग़फ़ूर की रस्सेदार गठीली बाँहें और हाथी-सी गर्दन, सब बेजोड़ हैं। पर अखाड़ा तो धूप निकलते-निकलते बिखर जाता है। फिर क्या करूँ ? थोड़ी देर बाद अपने नम्बर की मांटर भर दी, फिर, इसके बाद ? अगर साबित्तरी के पास बैठ लेता हूँ, तो बुरा क्या है ? दिन भर साबित्तरी का साथ और रात भर नूर का साथ ! साबित्तरी है भी बड़े खुले दिल की औरत ! तभी इतनी जल्दी इतने लोग उठने-बैठने लगे उसके पास ! सोचते-सोचते एकदम दिल न जाने क्यों भर आया, और तबीयत हुई कि नूर को खोल लाये, अकेला होगा वहाँ !

तभी शोर मच उठा। आयी हुई मोटर के टायरों से कंकड़ बुदबुदाए और धूल का धुआँ फैल गया। आयी हुई मोटर का एक पहिया कच्ची पटरी पर धूल के मखमली-मटमैले गद्दे पर बेलबूटेदार

निशान छोड़ता निकल गया। मोटर रुकी और उसमें से मोटरों के मालिक माखनलाल उतरे। सब कर्मचारियों ने घेर लिया उन्हें। पता चला कि बहुत कोशिश करने पर भी सरकार ने बात नहीं मानी। अब पहली तारीख से सरकारी बसें इस लाइन पर चलेंगी। इसलिए वे 'प्रायवेट कैरियर' का लैसन्स लेने लखनऊ जा रहे हैं। शायद एक-आध ड्राइवर खप जायें उनमें, बाकी लोग बेकार हो जायेंगे।

निसार सुन्न-सा रह गया। दिल और बैठ गया। भीतर कोठरी में जाकर सीट की एक गद्दी बिछाकर लेट रहा, उदास-सा। सर में कुछ दर्द था। साबित्तरी का ध्यान आया, तो लगा जैसे वह अकेला ही था और अकेला ही है। सोचने लगा—गोरख की बैठक बहुत है उसके पास। गोरख की बातों में भी ऐसा गुमान है, जैसे साबित्तरी पर उसका पूरा हक हो। गोरख उसे सिर्फ औरत मानता है, औरत से ज्यादा कुछ नहीं। और साबित्तरी भी जरूर एक औरत की ही तरह उसके साथ पेश आती होगी; जरूर उसके वहशी इरादों के सामने घुटने टेक देती होगी, आखिर औरत है वह, वह मर्द नहीं हो सकती। उसके बदन में अकड़ है, पर गोरख के सामने वह भी खो जाती होगी, उसके दिल में वही मैलापन, कमजोरी जरूर होगी! आदमी-आदमी है, औरत औरत। साबित्तरी आखिर औरत है! सोचते-सोचते वह न जाने कब सो गया। आँख खुली, तब रात झुक आयी थी।

बाहर निकला, अड्डे पर सजाटा था। छप्पर के लट्ठे में गड़ी कील पर एक बीमार-सी लालटेन जल रही थी, जिसके प्रकाश में लट्ठे के काले-काले पपड़े अजगर के काले पपोटों की तरह चमक रहे थे। मोटर की छतों पर क्लीनरों ने बिस्तर लगा लिये थे। अड्डे के वीरानेपन में मोहक खामोशी थी; वही खामोशी, जो सुबह होते-होते खड़खड़ाहट, हार्न की आवाज़ और लारियों की ढीली टिन की वॉडी के शोर में दुबक जाती। दोपहर में ताश-पत्तों, गालियों और सस्ते मज़ाकों

में छुप जाती, शाम को पैसों के लिए भगड़ते और ऊँची आवाज़ में हिसाब मिलाते मुंशियों की इन्सानियत की तरह मुर्दा रहती, और रात होते थके-माँदे मेहनतकश लोगों को गोद में ले, चिन्ताहीन-सी छा जाती ।

निसार घर की तरफ़ चल दिया, नूर को लेने; जो साबित्तरी के छप्पर में पहुँचा, अजीब-सा दृश्य सामने था । दो-तीन सिपाही तलाशी ले रहे थे, सामान उलट-पुलट कर रहे थे । ठेकेदार कमर पर हाथ रखे, सिर झुकाए पक्खे का सहारा लिए खड़ा था, और साबित्तरी बड़बड़ा रही थी, “कोना-कोना देख डालो, पर चीज़ का नुक़सान न होने पाये ! ए हवलदार साहब ! उसमें काँच की चूड़ी हैं, हाँ....!” काफ़ी भीड़ जमा हो गयी थी । निसार सारी घटना का कोई सिलसिला न बैठा पाया । इसलिए कुछ पूछना ठीक न समझ, वह नूर को खोलने लगा । सिपाही ठेकेदार को ले कर थाने की तरफ़ चल दिये । निसार चुपचाप सा नूर को ले कर अपने घर की तरफ़ चला गया । सोचा, सुबह अकेले में साबित्तरी से सब पूछ लेगा ।

रात को खाट के पाये से नूर को बाँध कर लेट रहा, तो खयाल आया कि महीना ख़त्म होने में पाँच दिन रह गये हैं । तब वह यहाँ क्या करेगा ? कौन-सा काम मिल सकेगा इस छोटे से क़स्बे में ? नूर का पेट कहाँ से पलेगा ? उसने लेटे-लेटे बकरे की गर्दन घुमायी और उसका मुँह अपने गालों से रगड़ कर, अपनी गर्दन से चिपका लिया । धीरे-धीरे नींद आ गयी ।

सुबह एक छोटी-सी गठरी बाँधे, नूर की रस्सी पकड़े, वह साबित्तरी के छप्पर में पहुँचा । दिन काफ़ी चढ़ आया था । साबित्तरी देखते ही

पूछ बैठी, “क्यों, आज नूर को दौड़ाने नहीं ले गये ? चलो अच्छा किया, चरबी चढ़ेगी, तो खासे दामों में बिक जायगा !”

निसार को जैसे बात काट गयी, पर मज़बूरी थी, बोला, “इसी पहली मोटर से करीमगंज जा रहा हूँ । यहाँ तो अब धन्धा खत्म हो रहा है; वहाँ मेरे एक मामू हैं । शायद कोई नया ज़रिया निकल आये । दो-तीन रोज़ में आ जाऊँगा । नूर को तुम्हें सौंपे जा रहा हूँ ।” कहते-कहते उसने बकरे की डोरी टट्टर से बाँध दी ।

साबित्तरी ने साधारण तरीके से ताका, फिर बोली, “मोटर जाने में देर है अभी ।”

“मोटर काफ़ी तड़के छूटती है, यह लारी छूट गयी, तो दिन-भर खराब हो जायगा !” कहते-कहते वह चलने लगा । कदम तेज़ होते गये और लम्बे-लम्बे डग भरता, वह कंकड़ की सड़क पर मुड़ गया । नूर गर्दन उठाए मासूमियत से उधर ताक रहा था ।

निसार को करीमगंज से वापस आने में दस रोज़ के करीब लग गये । वहाँ से वह एक नज़दीक के गाँव चला गया था, काम की तलाश में । यह गाँव ताज़िया बनाने वालों का गढ़ था । कुछ काम मिल जाने की उम्मीद थी यहाँ, क्योंकि दूर-दूर तक के ताज़िए यहाँ बनने आते थे और काम साल-भर चालू रहता ।

इक्के के सफ़र ने उसका जोड़-जोड़ खोल दिया था । मोटर के अड्डे पर आ कर जब इक्का रुका, तो जैसे वह भौंचक्का रह गया । पहले से जानते हुए भी सत्र-कुछ उसे बड़ा अजीब-सा लगा । दुनिया बदल गयी थी । चमचमाती सरकारी बसें खड़ी थीं । खाकी वर्दी पहने और तश्तरी की तरह हैट लगाये कुछ कमज़ोर बदन वाले लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे । पिआऊ वाले नुककड़ पर एक शरणार्थी ने शर्बत-लस्सी की दूकान खोल दी थी । लट्ठों पर सधे, टीन के शेड में दो-तीन नीली-नीली बसें खड़ी थीं । इधर-उधर भंडियाँ लटक रही थीं ।

वह अवाक् ताकता रह गया। गहरी ठेस लगी। वह सब कहाँ गया ? दिन-दिन भर लड़ने-झगड़ने पर मिल कर बैठने वाले चेहरे कहाँ चले गये ? इमली के नीचे मोटर की गदियों पर लगने वाली ताश की महफ़िल वीरान थी। दिन-दिन भर मरम्मत होनेवाली और रह-रह कर, गुरा कर रुक जाने वाली लारियों की आवाज़ खामोश थी। एक तरफ़ मेज़-कुर्सी पड़ी थी। नया ही दौर था, नयी तरह की चहल-पहल थी। बसों को देखा, तो अच्छी लगें; पर यह भी महसूस हुआ कि उन्होंने ही पेट पर लात मारी है। घृणा, पश्चाताप और बेबसी में वह केवल यही सोच पाया था—इन पर कभी पैर न रखूँगा। वह साबित्तरी के छप्पर की ओर लपका, इस आशा से कि वहाँ वह पुरानापन, यह पहचानी फ़िज़ा मिल जायगी।

पैर रुके और नज़र उठी, देखा कोठरी में ताला बंद। भुँफ़ला-सा उठा वह। बढ़ कर बग़ल वाली दूकान पर पहुँचा, सोनू भुर्जी से पूछा, “कुछ पता है, कहाँ है साबित्तरी ?”

“साबित्तरी ?” सोनू बोला, “आजकल सती-सीता और साबित्तरी ही रह गयी हैं सब ! बड़ी चलती औरत निकली, हम लोगों का मुँह भी काला करके गयी। आज तक इस ठिकाने अक़ीम-वफ़ीम का चक्कर कभी सुना था ?”

“अफ़ीम ? क्या हुआ, ठीक-ठीक बताओ न !” निसार ने उत्सुकता से पूछा। “अरे भाई, हाँ अफ़ीम ! वह ससुरी अफ़ीम बेचती थी। सो एक रोज़ आठ-दस दिन पहले पुलिस को सुराग़ मिला, तलाशी हुई; पर अफ़ीम बरामद नहीं हुई। सो उस बार तो ठेकेदार को ख़बरदार करके छोड़ दिया। परसों फिर तलाशी हुई, आध पाव अफ़ीम पकड़ी गयी। गोरख लाके देता था और सती साबित्तरी बेचती थी। सो ठेकेदार तो हवालात में बंद हैं बिचारे, और जब तक पुलिस दुबारा आये, वह गोरख के साथ छू-मंतर हो गयी !”

निसार ने सुना, तो रही-सही शक्ति भी जाती रही। कुएँ की मन पर पैर फैला कर बैठ गया। कुछ ठीक होते हुए पूछा, “अच्छा, हमारे बकरे का कुछ पता है ? साथ ले गयी कि कहीं रख गयी है उसे ?”

“बकरा तो आँने-पौने में बेच गयी, उसी जाहिद कसाई के हाथ, सो भला कसाई के सिवा कौन खरीदता जल्दबाज़ी में ? रुपये की दरकार रही होगी !” सोनू ने निर्लिप्त भाव से कह दिया, जैसे इस में कुछ असाधारण नहीं था।

निसार ने सुना, सारा खून पानी हो गया; पर एकदम, एक बार जोर से उसकी हड्डियों में कड़ापन आया, खाल में खिचाव हुआ और दाँती भिच गयी। नाक फूली और मौँहें ऊपर सरक गयीं। उसने फेंटे में हाथ डाला, मुड़े हुए नोट की गड्डी हथेली में आ गयी। गिनती में रुपये पचास थे।

बोखलाया-सा, तेज़ कदमों से वह जाहिद कसाई की दूकान पर पहुँचा। चिक हटाई और भरभरा उठा, “कितने में बेचा है उसने नूर को ?”

“पच्चीस में ! लेकिन निसार भाई मैंने तब खरीदा था, जब उसने यक्रीन दिला दिया था कि तुम इसे बेच कर गये हो। अल्लाह गवाह हैं, जो ज़रा भी झूठ हो इसमें !” कसाई निसार की दशा देखते हुए और सारी परिस्थिति समझ कर, एक साँस में कहता गया था।

“ज़्यादा बात से मतलब नहीं, यह लो पचास रुपये, बस ! चलो बकरा खोलो फ़ौरन !” झुंझलाते हुए निसार ने कहा, और कड़ी नज़रों से एक बार उसे ताका, जैसे ज़रा भी देर होने पर खून ही पी लेगा। कसाई एक क्षण हिचका। मायूसी-भरी नज़र उसने निसार पर डाली। निसार बुरी तरह ऊब रहा था।

तभी कसाई बोला, “लेकिन...लेकिन उसे तो ज़िबा कर डाला

आज सुबह ही, क्या बताऊँ, खुदा कसम सामने वाली रास है ।” दबी ज़बान से वह बोला और कहते-कहते रुक-सा गया ।

निसार के बदन की हर नस, हर नली की राह जैसे पिघला सीसा गुज़र गया हो । उसके हाथ से चिक छूट गयी । और उसने देखा—नूर, उसका दिन और रात का अकेला साथी, मर्द बच्चा ! बेज़ोर, बेकस, मरियल, उधड़ी चमड़ी लिये, उल्टा लटका, पर्दानशीन औरत की तरह चिक के पीछे से भौंक रहा था ।

किसी तरह उसके पैर उसे अड्डे तक लाये । नसों की मर्दानगी, बदन का ज़ोर और अकड़ सब मिट-सी गयी थी । नयी मोटर-बसों की आवाज़ में वह जोश न था, उनके इंजन हल्की रगड़ से चालू हो रहे थे । उनमें पुरानी लारियों का जोश-खरोश और चीख-पुकार न थी । झाइवर और क्लीनर, सब जैसे धीरे-धीरे मरियल और बेजान आदमियों की तरह घिसट रहे थे । और वह सोच रहा था, क्या ज़िन्दगी कशमकश, ताज़गी और ज़िन्दादिली की दुनिया से वह मुर्दों की दुनिया में क़दम बढ़ाने जा रहा है ?

क्या वह करीमगंज जायगा ? वहाँ ताज़िए बनाएगा ? वे ताज़िए, जिनके आगे-आगे मुर्दों का एक जुलूस चलता है जो छाती पीटते और मर्सिये गाते, निरन्तर कब्रिस्तान की ओर बढ़ते जाते हैं !

तिरस्कार से उसका जी भर गया....इन मुर्दों की दुनिया में वह नहीं रहेगा....उसे ज़िन्दा रहने के लिए जोश-खरोश और भीड़-भब्वड़ चाहिए ।

और अपने पाँवों से धूल उड़ाता वह बस्ती की ओर चला गया ।

आत्मा की आवाज़

मैं अपना काम ख़त्म करके वापस घर आ गया था। घर में कोई पर्दा करने वाला तो नहीं था, पर बड़ी भिन्नक लग रही थी। गोपाल दूर के रिश्ते से बड़ा भाई होता है, पर मेरे लिए वह मित्र के रूप में अधिक निकट था। आँगन में चारपाई पड़ी थी, उसी पर बैठ गया। भाभी ख़ामोश-सी चौके में बैठी थीं। चूल्हे की आग मँभा गयी थी; एक-आध सुलगते कोयले पर धी की कटोरी गर्म होने के लिए रखी थी। मैं पहली बार इस घर में आया था, संकुचित-सा बैठ गया। भाभी के पास इस तरह अकेले में बैठना भी अजीब लग रहा था और जा कर बैठक में चुपचाप बैठने पर संकोच लगता था; क्योंकि पराया घर और भाभी से पहली मुलाकात—कदम एकदम नहीं उठ पा रहे थे।

शाम काफी झुक आयी थी। लालटेन जला कर भाभी फिर वहीं चूल्हे के पास आ कर बैठ गयीं। उस उमस और ख़ामोशी के वातावरण में जी धबराने लगा। आँगन में बँधे तार पर पड़े कपड़ों की सलवटों में अँधेरा भरता जा रहा था और जलती लालटेन का पीला-पीला बीमार-सा थकन भरा प्रकाश ! और उसके सामने पड़ने वाली वस्तुओं की पैली हुई लम्बी-लम्बी काली छायाएँ ! घुटन सी

महःस करते हुए, बहुत भिन्नकते-भिन्नकते कई बार कोशिश करने के बाद, एक बार आवाज़ फूट ही पड़ी, “क्या गोपाल मैया बहुत देर से आते हैं ?”

“अक्सर देर हो जाती है ।” वैसे ही बैठे-बैठे भाभी ने निर्लिप्त भाव से कह दिया ।

मैं खामोश हो गया, अब और कोई प्रश्न भी नहीं था । निदान चौके की तरफ़ ताकता रहा । चौके की छत को टिकाए रखने वाले दोनों खंभों की चौड़ी काली-काली छायाएँ, फ़र्श पर पड़ कर फिर भीतरी दीवार की कालिख में गुम हो गयी थीं, और उनके बीच में दबी-सकुची-सी भाभी बैठी थीं । बड़ी थाली में आटे और पानी का घोल तैर रहा था, उसी में चकला उलटा रखा था, उसी तरफ़ एक लुढ़का हुआ बेलन और वह चमचा भी, जो छौंकना लगाने के लिए तपाया गया था । चूल्हे पर उफ़ान की लम्बी-सी लकीर और फेन-सा चारों तरफ़ उड़े हुए परथन का मोटा-मोटा बूर ! काला तवा एक ओर टिका था, जिस पर बिंदी-सी आखिरी चँदिया चिपकी थी । भाभी के पैर के पास ही आम के छल्लेदार छिलके और पोदीने के डंठल पड़े थे । कोने में काले मुँह की टिगरी जली हुई पड़ी थी, जो अब भी, ‘सुन्-सुन्’ करती धीरे-धीरे भापदार धुआँ छोड़ रही थी । मैं उकता कर उठना ही चाहता था कि भाभी बोलीं, “आप खा लीजिए, भूख लग रही होगी ।”

“नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं, अब शायद आते ही होंगे । हमसे कहा था कि छै बजे तक ज़रूर आ जायँगे ।” बहुत संभलते हुए धरेलू तरीके से मैंने कहा ।

“देख लीजिए और थोड़ी देर ।” कह कर भाभी ने अपनी सपाट किनारी की धोती को ज़रा और सिर पर खींच लिया । एक निगाह उन्होंने बढ़ते हुए अँधेरे की तरफ़ डाली और एक गहरी साँस खींच

कर फिर सिर झुका लिया। भंडार में से चूहों के दौड़ने की सहमी-सी आवाज़ आयी। 'खुर-खुर' करके उसने शायद कुछ टटोला और खो गया। चौके का धुआँ अब तक साफ़ हो चुका था, पर घर के और हिस्सों से अधिक कालिख उसमें फैल चुकी थी। मैं ग़ौर से भाभी को ताक रहा था; क्योंकि यह तय था कि उनकी नज़रें मेरी ओर नहीं उठेंगी।

एक काला-काला-सा भारीपन वहाँ की वायु में भर रहा था—कोई आवाज़ नहीं, ठहरा-ठहरा-सा सब कुछ निस्पन्द ! अँधेरा हम लोगों के बोले हुए शब्दों की गूँज भी तेज़ी से पी जाता था—कुछ बेबसी, अलस उदासी-सी थी। मैं अपनी जगह कसा बैठा था। गहरी पड़ती शाम, अँधेरा, चौके की बिखरी हालत, सब कुछ जैसे एक बेबसी के क्रम में आबद्ध थे। भाभी जैसे इस ठहराव को जीवन में ढाल कर अभ्यासी बन चुकी थीं। अभी शादी को साल भर से अधिक नहीं हुआ होगा, लेकिन यह गतिहीन ठहराव....जैसे जीवन की हर रंगीनी को मिटा चुका है।

घी कड़क उठा, भाभी ने उँगलियों से पकड़ कर हटा दिया, कुछ इतनी आसानी से कि जैसे गर्म धातु ज़रा भी असर नहीं करती; न उँगली थरथरायी, न कलाई ने जल्दी की। धुआँ छोड़ती हुई ठिगरी भी अब तक बिलकुल चुप हो गयी थी। भाभी का इस तरह निरपेक्ष होकर बैठना कोई शील-विशेष का लक्षण भी नहीं लग रहा था। मैं बैठा यही सोच रहा था कि शायद इस अवस्था में ही भाभी के वे नारीत्व के गुण—चंचलता, सुखरता, अपने प्रति सजगता आदि सभी छुप्त हो गये हैं। वे जान रही थीं कि मैं उन्हें देख रहा हूँ, पर जैसे इसमें सकुचाने या सिमटने की कोई बात ही नहीं थी। काफी देर बाद वह ऊबती हुई कुछ कहने जा रही थीं कि गोपाल आ गया। मुझे देखते

ही वह बोल पड़ा, “काफ़ी अकेलापन महसूस किया होंगा....क्या बताऊँ देर हो गयी।”

मैं खामोश रहा, वह कमीज उतारते हुए कहने लगा, “इन्हें तो बस रोटी-गृहस्थी से काम है। अगर कनस्तर, डिब्बे और शीशियों ज़रा भी बुदबुदाना जानती होती तो शायद हमसे भी बात करने की नौबत न आती, तब भला तुमसे क्या की होगी !”

“हाँ, भाभी बड़ी गंभीर मालूम पड़ती हैं।” कह कर मैंने उनकी तरफ़ नज़र डाली। उनमें कुछ हरकत-सी हुई थी, पर वह शायद पटा डालने के लिए थी।

“Not serious but silly !” गोपाल कहता हुआ भीतर कमीज़ टाँगने चला गया।

खाना खाते वक्त गोपाल कुछ विरक्त-सा रहा था। हर चौथे-पाँचवे कौर के बाद पानी पीता जाता था। हम दोनों साथ ही खा रहे थे। कुछ बात चल पड़ी थी, वह कह रहा था, “दुनिया में बहुत से जंजाल हैं, कुछ धर्म के नाम पर, कुछ गृहस्थी के नाम पर; इन जालों में आदमी फँसता है, जब कि ये सब क़तई ज़रूरी नहीं हैं, बिलकुल बेकार हैं।”

भाभी ने झिझकते हाथ से रोटी थाली में रख दी। गोपाल ने झट से उठा कर रोटी के चार टुकड़े कर दिये, कुछ इतनी आसानी से कि कोई खास बात नहीं थी।

“अरे, टुकड़े करने की क्या ज़रूरत....गरम तो नहीं है और मैं लखनऊआ भी नहीं, जो इतना तकल्लुफ़ बरत रहे हो !” मैंने गोपाल से कहा, क्योंकि रोटी तोड़ने में मुझे कोई कठिनाई नहीं थी।

बात फिर चल निकली, रोटी आयी; गोपाल ने तोड़कर कौर बना डाले। मैंने उसके तकल्लुफ़ पर मुसकरा-भर दिया। गोपाल ने मेरी

तरफ़ कुछ इस तरह देखा जैसे कि मैं नादान-सा हूँ, अभी तकल्लुफ़, बनावट और कच्ची दुनिया से उभर नहीं पाया हूँ; इसीलिए शायद हर बात में मुझे ये ही चीज़ें भाँकती मिलती हैं।

तीसरी बार भी जब वह नहीं माना, तो मेरे मुँह से निकल ही गया, “हद कर दी यार तुमने भी ! भई मेरी उँगलियाँ अभी साबित हैं !” यह कह कर मैं मेहमानपन की बू मिटाना चाहता था।

“ये रोटियाँ हैं या नकशे....कोई अफ्रीका का, कोई अमरीका का !” सॉस से एक अजीब आवाज़ करता हुआ वह कुछ बोला और जैसे कोई भारी बात भीतर दबा गया। भाभी ने किनारी की कोर से मेरी तरफ़ देखा और कुछ डूबती हुई-सी, दाल परसने लगीं।

मैं कुछ अप्रतिभ-सा हो गया। यदि मैं बार-बार न टोकता, तो शायद भाभी को यह लतीफ़ा न सुनना पड़ता।

थोड़ी देर बाद जब बाहर कमरे में आ गया, तो बड़ी अजीब-सी बात सुन पड़ी। शायद बगल वाले कमरे में ही गोपाल था; काफ़ी साफ़ सुनाई पड़ रहा था। वह कह रहा था, “मैं पानी की तरह रुपया बहा कर घर को ठीक रखना चाहता हूँ और कुछ नहीं तो आज एक नया ढंग पेश किया तुमने। इसी तरह की शर्मिन्दगी मुझे हमेशा उठानी पड़ती है, और तुम अपने तौर-तरीकों से बाज़ नहीं आतीं !”

“.....” भाभी ने कुछ कहा था।

“तुम्हारी इतनी मजाल, रोटियाँ लग गयी हैं !” गोपाल तैश में कह रहा था।

“.....” भाभी कुछ बोली थीं।

चटाक् की आवाज़ और गोपाल का गूँजता हुआ स्वर, “यही चाहती थी न ? मैं सोचता था, कौन हाथ छोड़े ! नहीं समझ में आता और फिर हर बात का मुँह पर जवाब....बड़ी गम्भीर बनी फिरती है !”

मैं सकपका-सा गया। भीतर जाना भी ठीक नहीं था। उन दोनों के बीच में पड़ना कहाँ तक ठीक था ! पर मेरी साँस घुट रही थी और आत्मग्लानि से मेरा शरीर जल रहा था। यह सब मेरी वजह से हुआ। उफ़्! उस रोटी के लिए तीन बार टोक देना सारे फसाद की जड़ बन गया। मैंने सोचा कि गोपाल को आवाज़ ही दे दूँ, पर यह तो भाभी की इज्जत के लिए और भी बुरा होगा ! कुछ बोल नहीं पाया, ख़ामोशी से उतर कर बाहर चला गया।

दूसरे दिन जब विदा होने लगा, तो जी में आया कि गोपाल से उसके वहशीपन के बारे में कुछ कह दूँ, पर हिम्मत नहीं हुई। बाहर निकलने लगा, तो दूर से ही मैंने कहा, “भाभी जी नमस्ते !”

भाभी की दो करुणार्द्र आँखें उठीं, मेरी ओर नज़र-भर ताका, जैसे कुछ याद-सा आया हो, और पलकें झुक गयीं, मानो सब व्यर्थ है। नीची नज़र किए ही उन्होंने नमस्ते की। मैं सकुचा गया। गाड़ी में बैठ गया। वेही बातें मन को भारी की हुए थीं—टेढ़ी रोटी वाली बात, उस पर इतना तूमार, गोपाल का मारना; भाभी की पनीली आँखें, नज़र का मिलना, उमड़ता हुआ सैलाब, पलकों का झुकना, बेबस-से उठे हुए हाथ, सब कुछ ठहरा-ठहरा-सा; भाभी का बैठना, उनका ख़ामोश रहना, कोई गति नहीं, जीवन की थिरकन नहीं। उल्लास, खीज, विद्रोह, घृणा, प्यार कुछ भी नहीं....आखिर कैसे जीती हैं वे ?

घर आते-आते उदासी दूर होती गयी, कमरे का ताला खोला, पहली नज़र आये हुए पत्रों पर पड़ी, जिन्हें डाकिया दरवाज़े की दर्राज से डाल जाता है। एक लिफ़ाफ़े पर नज़र उलझ कर रह गयी। यह पत्र अवश्य ही बिनती का है ऐसा मुझे विश्वास हो गया। बिनती !

आखिर आज मैं तुम्हें याद आ ही गया....दो साल बाद । कुछ दद-सा उठा । पत्र खोल कर पढ़ने लगा । लिखा था—

“प्रिय राजू,

आज अचानक बहुत दिनों बाद तुम्हें यह पत्र लिखने बैठी हूँ । हृदय में हज़ार शंकाएँ उठती हैं कि क्या इस हालत में होते हुए भी मुझे ऐसा करना चाहिए ? पर इसमें कोई अजीब बात भी नहीं, हर जगह जंजीरें भी हैं और सतीत्व की आडम्बरपूर्ण दीवारें भी । पर जंजीर की हर कड़ी में जोड़ की दरार है और हर दीवार में सँधें भी । यदि मैं इतना साहस कर रही हूँ, तो कोई बड़ी बात भी नहीं । इस घर में इतनी आज़ादी तो है ही ।

आज सहसा तुम याद आये हो । वास्तव में शादी के बाद लड़की के जीवन में महान् परिवर्तन होता है, विवाह के बाद पुरुष को रहन सहन का कुछ ढंग ही बदलना पड़ता है, पर लड़कियों को तो पूरी आत्मा बदलनी पड़ती है, यह मेरा स्वयं का अनुभव है, मैंने अपनी आत्मा को बदलने की चेष्टा की है । एक क्रीमती आत्मा की हत्या इसलिए की कि वह तुम्हें प्यार करती थी । जब मैंने इस नये घर में कदम रखा था, तो यही सोच कर कि मेरी आत्मा सदैव के लिए तुम्हारे पास है, शरीर इस नये घर का है । लेकिन बहुत ईमानदारी से कहूँ, बुरा मत मानना, कुछ दिनों बाद मेरी पसलियों की काया में कुछ नरम स्पर्श-सा महसूस होने लगा, आत्मा का स्पन्दन होने लगा और तभी से इस घर के दुःख-सुख मुझे सताने लगे ।

मुझे तुम्हारी उदारता पर विश्वास है, इसीलिए लिख रही हूँ । मेरी कही हुई बात की ईमानदारी को यदि तुमने न समझा, तो मेरे साथ अन्याय करोगे ।

सच यह है कि मैं तुम्हें भूलने लगी थी और अब भी बहुत याद नहीं करती । अब मुझे लगता है कि मेरी आत्मा पूर्णतया मेरे अधिकार

में है, वह तुम्हारे पास नहीं है। इसका एक बहुत बड़ा कारण है।

मैं यहाँ बहुत सुखी हूँ। सारे आराम यहाँ है। मेरी माँ और पापा का अरमान कि उनकी इकलौती लड़की का रिश्ता किसी ऊँचे घर में हो, पूरा हो ही गया है, इससे भी मुझे बहुत सन्तोष मिलता है। शादी होने से पहले मुझे तुम्हारा मोह था, तुम्हारी ज़िन्दगी के रूप के प्रति लगाव था। तुमसे दूर होने की सोच कर मैं घबरा जाती थी। तब तुम मेरे लिए सब कुछ थे, तुम मेरे चारों ओर थे, हर तरफ़, हर सौंस में थे। पर अब यह सब एक मुलम्मे की तरह उतर चुका है। यहाँ इज़्जत भी है, शान भी, आराम भी और पैसा भी। पैसा काफ़ी बड़ी शक्ति है, जिसके प्रति तुमने सदा उदासीनता ही दिखायी है। खैर, मैं जब यहाँ आयी थी, तो तुम्हारी बातें, तुम्हारे साथ बिताये क्षण, उन स्थानों की स्मृतियाँ, जहाँ हम साथ-साथ घूमते थे, सभी मेरे साथ थे। पर 'ये', जिन्हें तुम अपना 'खुशनसीब ज़ालिम मित्र' कहते हो, बहुत-कुछ तुम्हारी तरह ही है, तुम्हारी तरह हँसते हैं, वैसे ही बात करते हैं, उसी तरह चलते-फिरते हैं, सब अंदाज़ वे ही हैं। हाँ, तुम्हारी आँखें ज़रा अधिक गहरी हैं, जिनकी बरबस आज मुझे याद आ गयी। बाकी सब हाव-भाव, चाल-ढाल, तौर-तरीके जैसे तुम्हारे थे, वैसे ही इनके भी हैं। तुम ज़रा संकोची हो, ये बहुत खुले हुए। इसीलिए मैं तुम्हें भूल गयी और तुम्हें भूल जाना अच्छा भी था।

आज खाना पकाने वाली महराजिन नहीं आयी। घर की बहू हूँ मैं, खाना पकाने के लिए रसोई घर में गयी, शायद पहली बार। जब वहाँ घुसी, तो बरबस यह भाव जाग उठा कि तुम्हारे साथ यदि जीवन बीतता होता, तो रोज़ ऐसे ही मुझे खाना पकाना पड़ता। तुम्हारे साथ जीवन की तमाम कल्पनाएँ मेरे दिमाग में आ-आ कर समाती जा रही थीं। मुझे इस तरह रहना पड़ता, मैं यह करती, मैं वह करती, शाम को तुम्हारे आने की राह देखती; मैं खाना पकाती, तुम बीच-बीच में आ

कर छेड़ते, कभी दाल में पानी ज़्यादा बताते, कभी रसोईघर में गर्मी से परेशान देख कर मुझे बाहर ले जाते ।

मेरी हालत अजीब-सी हो रही थी । तुम्हारी हर बात याद आने लगी । अकेले ही रोटी बनाने बैठी, लगा कि जैसे तुम अभी छेड़ने आ रहे हो, तुम मेरी आँखों के सामने पूरी तरह से उभरे हुए थे, मेरी हर साँस में तुम बस गये थे । मेरे चारों ओर तुम थे । तुम्हारे पैरों की आहट हर तरफ़ से आ रही थी और मेरी हर रोटी टेढ़ी हो जाती थी । सच कहती हूँ, हर गोल बनती रोटी अपने आप टेढ़ी हो कर बदशकल हो जाती । यह सब मुझे बहुत अपना-सा लग रहा था, जैसी पुरानी आत्मा अपने पुराने रूप में मुझे वापस मिल गयी हो ।

खाते वक्त उन्होंने हँसते हुए कहा था, “बाह, यह किसी खास जगह की रोटियों का नमूना है शायद !”

माताजी बोली थीं, “अरे, सीख जायगी, इसमें हँसने की क्या बात. अभी आदत नहीं है ।”

पर राजू ! मेरी आत्मा तुम्हारी आहट सुन रही थी । मैंने अपने आँसुओं को दोनों की नज़र चुरा कर सुखा लिया । शायद किसी ने नहीं देखा । अगर देखा भी होगा, तो समझ नहीं पाया होगा ।....”

मैं पत्र आगे न पढ़ सका । घुटन, बेबसी, धुआँ, ठहराव, खामोशी और उसमें ऊबती हुई आत्मा ! वे बेबस उठे हुए हाथ और पानी भरी आँखें, जैसे चारों ओर थीं, हर तरफ़ थीं ।

राजा निरबंसिया

“एक राजा निरबंसिया थे,” माँ कहानी सुनाया करती थीं। उनके आस-पास ही चार-पाँच बच्चे अपनी मुट्टियों में फूल दबाये कहानी समाप्त होने पर गौरों पर चढ़ाने के लिए उत्सुक-से बैठ जाते थे। आटे का सुन्दर-सा चौक पुरा होता, उसी चौक पर मिट्टी की छै गौरें रखी जातीं, जिन में से ऊपरवाली के बिंदिया और सिंदूर लगता, बाक़ी पाँचों नीचे दबी पूजा ग्रहण करती रहतीं। एक ओर दीपक की बाती स्थिर-सी जलती रहती और मंगल-घट रखा रहता, जिसपर रोली से सथिया बनाया जाता। सभी बैठे बच्चों के मुख पर फूल चढ़ाने की उतावली की जगह कहानी सुनने की सहज स्थिरता उभर आती।

“एक राजा निरबंसिया थे,” माँ सुनाया करती थीं, “उनके राज में बड़ी खुशहाली थी। सब वरण के लोग अपना-अपना काम-काज देखते थे। कोई दुखी नहीं दिखायी पड़ता था। राजा के एक लक्ष्मी-सी रानी थी, चन्द्रमा-सी सुन्दर और....और राजा को बहुत प्यारी। राजा राजकाज देखते और मुख से रानी के साथ महल में रहते....”

मेरे सामने मेरे खयालों का राजा था, राजा जगपती ! तब जगपती से मेरी दाँतकाटी दोस्ती थी, दोनों मिडिल स्कूल में पढ़ने जाते। दोनों

एक-से घर के थे, इसलिए बराबरी की निभती थी। मैं मैट्रिक पास करके एक स्कूल में नौकर हो गया और जगपती कस्बे के ही वकील के यहाँ मुहर्निर। जिस साल जगपती मुहर्निर हुआ, उसी वर्ष पास के गाँव में उसकी शादी हुई, पर ऐसी हुई कि लोगों ने तमाशा बना देना चाहा। लड़कीवालों का कुछ विश्वास था कि शादी के बाद लड़की की बिदा नहीं होगी। ब्याह हो जायगा और सातवीं भोंवर तब पड़ेगी, जब पहली बिदा की सायत होगी और तभी लड़की अपनी ससुराल जायगी। जगपती की पत्नी थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी थी, पर घर की लीक को कौन मेटे ! बारात बिना बहू के वापस आ गयी और लड़केवालों ने तै कर लिया कि अब जगपती की शादी कहीं और कर दी जायगी, चाहे कानी-लूली से हो, पर वह लड़की अब घर में नहीं आयगी। लेकिन साल खतम होते-होते सब ठीक-ठाक हो गया। लड़कीवालों ने माफ़ी माँग ली और जगपती की पत्नी अपनी ससुराल आ ही गयी।

जगपती को जैसे सब-कुछ मिल गया और सास ने बहू की बलइयाँ लेकर घर की सब चाबियाँ सौंप दीं, गृहस्थी का ढंग-चार समझा दिया। जगपती की माँ न जाने कब से आस लगाये बैठी थीं। उन्होंने आराम की सौंस ली। पूजा-पाठ में समय कटने लगा, दोपहरियाँ दूसरे घरों के आँगन में बीतने लगीं। पर सौंस का रोग था उन्हें, सो एक दिन उन्होंने अपनी अंतिम घड़ियाँ गिनते हुए चन्दा को पास बुलाकर समझाया था—‘बेटा, जगपती बड़े लाड़-प्यार का पाला है। जब से तुम्हारे ससुर नहीं रहे, तबसे इसके छोटे-छोटे हठ को पूरा करती रही हूँ....अब तुम ध्यान रखना।’ फिर रुककर उन्होंने कहा था, ‘जगपती किसी लायक हुआ है, तो रिश्तेदारों की आँखों में करकने लगा है। तुम्हारे बाप ने ब्याह के वक्त नादानी की, जो तुम्हें बिदा नहीं किया। मेरे दुश्मन देवर-जेठों को मौका मिल गया। तूमार खड़ा कर दिया कि अब बिदा करवाना नाक कटवाना है।....जगपती का ब्याह क्या हुआ,

उन लोगों की छाती पर सौंप लोट गया। सोचा, घर की इज्जत रखने की आइ लेकर रंग में भंग कर दें।....अब, बेटा, इस घर की लाज तुम्हारी लाज है। आज को तुम्हारे ससुर होते, तो भला....' कहते-कहते माँ की आँखों में आँसू आगये, और वह जगपती की देख-भाल उसे सौंपकर सदा के लिए मौन हो गयी थीं।

एक अरमान उनके साथ ही चला गया कि जगपती की संतान को, चार बरस इन्तज़ार करने के बाद भी वह गोद में न खिला पायीं। और चन्दा ने मन में सब्र कर लिया था, यही सोचकर कि कुल-देवता का अंश तो उसे जीवन भर पूजने को मिल गया था। घर में चारों तरफ़ जैसे उदारता बिखरी रहती, अपनापा बरसता रहता। उसे लगता, जैसे घर की अँधेरी, एकान्त कोठरियों में वह शान्त शीतलता है जो उसे भरमा लेती है। घर की सब कुंडियों की खनक उसके कानों में बस गयी थी, हर दरवाज़े की चरमराहट पहचान बन गयी थी।....

“एक रोज़ राजा आखेट को गये,” माँ सुनाती थीं, “राजा आखेट को जाते थे, तो सातवें रोज़ ज़रूर महल में लौट आते थे। पर उस दफ़ा जब गये, तो सातवाँ दिन निकल गया, पर राजा नहीं लौटे। रानी को बड़ी चिन्ता हुई। रानी एक मंत्री को साथ लेकर खोज में निकली....”

और इसी बीच जगपती को रिश्तेदारी की एक शादी में जाना पड़ा। उसके दूर के रिश्ते के भाई दयाराम की शादी थी। कह गया था कि दसवें दिन ज़रूर वापस आ जायगा। पर छठे दिन ही ख़बर मिली कि बारात घर लौटने पर दयाराम के घर ढाका पड़ गया। किसी मुख़बिर ने सारी ख़बरें पहुँचा दी थीं कि लड़कीवालों ने दयाराम का घर सोने-चाँदी से पाट दिया है....आखिर पुश्तैनी ज़मींदार की इकलौती लड़की थी। घर आये मेहमान लगभग बिदा हो चुके थे।

दूसरे रोज़ जगपती भी चलनेवाला था । पर उसी रात डाका पड़ा । जवान आदमी, भला खून मानता है । डाकेवालों ने जब बन्दूकें चलायीं, तो सबकी घिग्घी बँध गयी । पर जगपती और दयाराम ने छाती ठोंककरे लाठियाँ उठा लीं । घर में कुहराम मच गया ।....फिर सन्नाटा छा गया । डाकेवाले बराबर गोलियाँ दाग रहे थे । बाहर का दरवाज़ा टूट चुका था । पर जगपती ने हिम्मत बढ़ाते हुए हाँक लगायी, “ये हवाई बन्दूकें इन तेल पिलायी लाठियों का मुक्काबला नहीं कर पायेंगी, जवानो !”

पर दरवाज़े तड़-तड़ टूटते रहे और अंत में एक गोली जगपती की जाँघ को पार करती निकल गयी और दूसरी उसकी जाँघ के ऊपर कूल्हे में समाकर रह गयी ।

चन्दा रोती-कलपती और मनौतियाँ मानती जब वहाँ पहुँची, तो जगपती अस्पताल में था । दयाराम के थोड़ी चोट आयी थी । उसे अस्पताल से छुट्टी मिल गयी थी । जगपती की देख-भाल के लिए वहाँ अस्पताल में मरीज़ों के रिश्तेदारों के लिए जो कोठरियाँ बनी थीं, उन्हीं में चन्दा को रुकना पड़ा । कस्बे के अस्पताल से दयाराम का गाँव चार कोस पड़ता था । दूसरे-तीसरे वहाँ से आदमी आते-जाते रहते, जिस सामान की ज़रूरत होती, पहुँचा जाते ।

पर धीरे-धीरे उन लोगों ने भी ख़बर लेना छोड़ दिया । एक दिन में ठीक होने वाला घाव तो था नहीं । जाँघ की हड्डी चटख गयी थी और कूल्हे में आपरेशन से छै इन्च गहरा घाव हो गया था ।

कस्बे का अस्पताल था । कम्पाउन्डर ही मरीज़ों की देख-भाल रखते । बड़ा डाक्टर तो नाम के लिए था या कस्बे के बड़े आदमियों के लिए । छोटे लोगों के लिए तो कम्पोटर साहब ही ईश्वर के अवतार थे । मरीज़ों की देख-भाल करनेवाले रिश्तेदारों की खाने-पीने की

मुश्किलों से लेकर मरीज़ की नब्ज़ तक सँभालते थे। छोटी-सी इमारत में अस्पताल आबाद था। रोगियों के लिए सिर्फ़ छै-सात खाटें थीं। मरीज़ों के कमरे से लगा दवा बनाने का कमरा था, उसी में एक और एक आरामकुर्सी थी और एक नीची-सी मेज़। उसी कुर्सी पर बड़ा डाक्टर आकर कभी-कभार बैठता, नहीं तो बचनसिंह कम्पाउन्डर ही जमे रहते। अस्पताल में या तो फ़ौजदारी के शहीद आते या गिर गिराके हाथ-पैर तोड़ लेनेवाले एक-आध लोग। छुठे-छुमासे कोई औरत दिख गयी, तो दिख गयी, जैसे उन्हें कभी रोग घेरता ही नहीं था। कभी कोई बीमार पड़ती, तो घरवाले हाल बताके आठ-दस रोज़ की दवा एक साथ ले जाते और फिर उसके जीने-मरने की ख़बर तक न मिलती।

उस दिन बचनसिंह जगपती के घाव की पट्टी बदलने आया। उसके आने में और पट्टी खोलने में कुछ ऐसी लापरवाही थी, जैसे ग़लत बँधी पगड़ी को ठीक से बाँधने के लिए खोल रहा हो। चन्दा उसकी कुर्सी के पास ही सॉस रोके खड़ी थी। वह और रोगियों से बात भी करता जा रहा था। इधर मिनट भर को देखता, फिर जैसे अभ्यस्त-से उसके हाथ अपना काम करने लगते। पट्टी एक जगह खून से चिपक गयी थी, जगपती बुरी तरह कराह उठा। चन्दा के मुँह से चीख निकल गयी। बचनसिंह ने सतर्क होकर देखा तो चन्दा मुख में धोती का पल्ला खोसे अपनी भयातुर आवाज़ दबाने की चेष्टा कर रही थी, जगपती एकबारगी मछली-सा तड़पकर रह गया। बचनसिंह की उँगलियाँ थोड़ी-सी थरथरायीं कि उसकी बाँह पर टप-से चन्दा का आँसू चू पड़ा।

बचनसिंह सिहर-सा गया और उसके हाथों की अभ्यस्त निठुराई को जैसे किसी मानवीय कोमलता ने धीरे से छू दिया। आहों, कराहों,

दर्द-भरी चीखों और चटखते शरीर के जिस वातावरण में रहते हुए भी वह बिल्कुल अलग रहता था, फोड़ों को पके आम-सा दाब देता था, खाल को आलू-सा छील देता था....उसके मन से जिस दर्द का अहसास उठ गया था, वह उसे आज फिर हुआ और वह बच्चे की तरह फूँक-फूँक कर पट्टी को नम करके खोलने लगा। चन्दा की ओर धीरे से निगाह उठाकर देखते हुए फुसफुसाया, “च....च....रोगी की हिम्मत टूट जाती है ऐसे।”

पर जैसे यह कहते-कहते उसका मन खुद अपनी बात से उचट गया। यह बेपरवाही तो चीख और कराहों की एकरसता से उसे मिली थी, रोगी की हिम्मत बढ़ाने की कर्तव्य-निष्ठा से नहीं। जब तक वह घाव की मलहम-पट्टी करता रहा, तब तक किन्हीं दो आँखों की करुणा उसे घेरे रही।

और हाथ धोते समय वह चन्दा की उन चूड़ियों से भरी कलाइयों को बेभिभक्त देखता रहा, जो अपनी खुशी उससे माँग रही थीं। चन्दा पानी डालती जा रही थी और बचनसिंह हाथ धोते धोते उसकी कलाइयों, हथेलियों और पैरों को देखता जा रहा था। दवाखाने की ओर जाते हुए उसने चन्दा को हाथ के इशारे से बुलाकर कहा, “दिल छोटा मत करना....जाँघ का घाव तो दस रोज़ में भर जायगा। कूल्हे का घाव कुछ दिन ज़रूर लेगा। अच्छी-से-अच्छी दवाई दूँगा। दवाइयाँ तो ऐसी हैं कि मुद्दे को चंगा कर दें, पर हमारे अस्पताल में नहीं आती, फिर भी....”

“तो किसी दूसरे अस्पताल से नहीं आ सकती वो दवाइयाँ?” चन्दा ने पूछा।

“आ तो सकती हैं पर मरीज़ को अपना पैसा खरचना पड़ता है, उनमें....” बचनसिंह ने कहा।

चन्दा चुप रह गयी तो बचनसिंह के मुँह से अनायास ही निकल

पड़ा, “किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो मुझसे बताना ।....रही दवाइयाँ, सो कहीं-न-कहीं से इन्तज़ाम करके ला दूँगा । महकमे से मँगायेंगे, तो आते-अवाते महीनों लग जायँगे । शहर के डाक्टर से मँगवा दूँगा । ताकत की दवाइयों की बड़ी ज़रूरत है उन्हें । अच्छा, देखा जायगा....” कहते-कहते वह रुक गया ।

चन्दा ने कृतज्ञता भरी नज़रों से उसे देखा और उसे लगा जैसे आँधी में उड़ते पत्ते को कोई अटकाव मिल गया हो । आकर वह जगपती की खाट से लगकर बैठ गयी । उसकी हथेली लेकर वह सहलाती रही । नाखूनों को अपने पोरों से दबाती रही ।

धीरे-धीरे बाहर अँधेरा बढ़ चला । बचनसिंह तेल की एक लालटेन लाकर मरीज़ों के कमरे के एक कोने में रख गया । चन्दा ने जगपती की कलाई दाबते-दाबते धीरे से कहा, “कम्पाउन्डर साहब कह रहे थे....” और इतना कहकर वह जगपती का ध्यान आकृष्ट करने के लिए चुप हो गयी ।

“क्या कह रहे थे ?” जगपती अनमने स्वर में बोली ।

“कुछ ताकत की दवाइयाँ तुम्हारे लिए ज़रूरी हैं !”

“मैं जानता हूँ ।”

“पर....”

“देखां चन्दा, चादर के बराबर ही पैर फैलाये जा सकते हैं । हमारी औकात इन दवाइयों की नहीं है ।”

“औकात आदमी की देखी जाती है कि पैसे की, तुम तो....”

“देखा जायगा ।”

“कम्पाउन्डर साहब इन्तज़ाम कर देंगे, उनसे कहूँगी मैं ।”

“नहीं चन्दा, उधारखाते से मेरा इलाज नहीं हाँगा....चाहे एक के चार दिन लग जायँ ।”

“इसमें तो....”

“तुम नहीं जानती, कर्ज़ कोढ़ का रोग होता है, एक २ लगने से तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है।”

“लेकिन....” कहते-कहते वह रुक गयी।

जगपती अपनी बात की टेक रखने के लिए दूसरी ओर मुँह घुमा कर लेट रहा।

और तीसरे रोज़ जगपती के सिरहाने कई ताक़्त की दवाइयाँ रखी थीं, और चन्दा की ठहरनेवाली कोठरी में उसके लेटने के लिए एक खाट भी पहुँच गयी थी। चन्दा जब आयी, तो जगपती के चेहरे पर मानसिक पीड़ा की असंख्य रेखाएँ उभरी थीं, जैसे वह अपनी बीमारी से लड़ने के अलावा स्वयं अपनी आत्मा से भी लड़ रहा हो....चन्दा की नादानी और स्नेह से भी उलभ रहा हो और सबसे ऊपर सहायता करनेवाले की दया से जूझ रहा हो।

चन्दा ने देखा तो जैसे यह सब सह न पायी। उसके जी में आया कि कह दे, क्या आज तक तुमने कभी किसी से उधार पैसे नहीं लिये ? पर वह तो खुद तुमने लिये थे और तुम्हें मेरे सामने स्वीकार नहीं करना पड़ा था। इसीलिए लेते भिन्न नहीं लगी, पर आज मेरे सामने उसे स्वीकार करते तुम्हारा भूठा पौरुष तिलमिलाकर जाग पड़ा है। पर जगपती के मुख पर बिखरी हुई पीड़ा में जिस आदर्श की गहराई थी, वह चन्दा के मन में चोर की तरह घुस गयी, और बड़ी स्वाभाविकता से उसने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा, “ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ का कड़ा बेचने को दे दिया था। उसी से आयी हैं।”

“मुझसे पूछा तक नहीं और....” जगपती ने कहा और जैसे खुद मन की कमज़ोरी को दाब गया—कड़ा बेचने से तो अच्छा था कि बचनसिंह की दया ही ओढ़ ली जाती। और उसे हल्का-सा पछतावा

भी था कि नाहक वह रौ में बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है, जानियों की तरह सीख दे देता है ।

और जब चन्दा अँधेरा होते उठकर अपनी कोठरी में सोने के लिए जाने को हुई, तो कहते-कहते यह बात दबा गयी कि बचनसिंह ने उसके लिए एक खाट का इन्तज़ाम भी करा दिया है । कमरे से निकली, तो सीधी कोठरी में गयी और हाथ का कड़ा लेकर सीधे दवाखाने की ओर चली गयी, जहाँ बचनसिंह अकेला डाक्टर की कुर्सी पर आराम से टाँगें फैलाये लैम्प की पीली रोशनी में लेटा था । जगपती का व्यवहार चन्दा को लग गया था, और यह भी कि वह क्यों बचनसिंह का एहसान अभी से लाद ले, पति के लिए ज़ेवर की कितनी औकात है । वह बेधड़क-सी दवाखाने में घुस गयी । दिन की पहचान के कारण उसे कमरे की मेज़-कुर्सी और दवाओं की अलमारी की स्थिति का अनुमान था, वैसे कमरा अँधेरा ही पड़ा था, क्योंकि लैम्प की रोशनी केवल अपने वृत्त में अधिक प्रकाशवान होकर कोनों के अँधेरे को और भी घनीभूत कर रही थी । बचनसिंह ने चन्दा को घुसते ही पहचान लिया । वह उठकर खड़ा हो गया । चन्दा ने भीतर कदम तो रख दिया, पर सहसा सहम गयी, जैसे वह किसी अँधेरे कुँ में अपने आप कूद पड़ी हो, ऐसा कुआँ, जो निरन्तर पतला होता गया है... और जिसमें पानी की गहराई पाताल की पतों तक चली गयी हो, जिसमें पड़कर वह नीचे धँसती चली जा रही हो, नीचे....अँधेरा....एकान्त घुटन....पाप !

बचनसिंह आवाज़ ताकता रह गया और चन्दा ऐसे वापस लौट पड़ी, जैसे किसी काले पिशाच के पंजों से मुक्ति मिली हो । बचनसिंह के सामने क्षण भर में सारी परिस्थिति कौंध गयी और उसने वहीं से बहुत संयत आवाज़ में ज़बान को दाबते हुए जैसे वायु में स्पष्ट ध्वनित करा दिया—‘चन्दा !’ वह आवाज़ इतनी बेआवाज़ थी और निरर्थक

होते हुए भी इतनी सार्थक थी कि उस खामोशी में अर्थ भर गया ।

चन्दा रुक गयी ।

बचनसिंह उसके पास जाकर रुक गया ।

सामने का घना पेड़ स्तब्ध खड़ा था, उसकी काली परछाई की परिधि जैसे एक बार फैलकर उन्हें अपने वृत्त में समेट लेती और दूसरे ही क्षण मुक्त कर देती । दवाखाने का लैम्प सहसा भभककर रुक गया और मरीजों के कमरे से एक कराह की आवाज़ दूर मैदान के छोर तक जाकर डूब गयी ।

चन्दा ने वैसे ही नीचे ताकते हुए अपने को संयत करते हुए कहा,
“ये कड़ा तुम्हें देने आयी थी ।”

“तो वापस क्यों चली जा रही थीं ?”

चन्दा चुप । और दो क्षण रुककर उसने अपने हाथ का सोने का कड़ा धीरे से उसकी ओर बढ़ा दिया, जैसे देने का साहस न होते हुए भी यह काम आवश्यक था ।

बचनसिंह ने उसकी सारी काया को एक बार देखते हुए अपनी आँखें उसके सिर पर जमा दीं, जिसके ऊपर पड़े कपड़े के पार नरम चिकनाई से भरे लम्बे-लम्बे बाल थे, जिनकी भाप-सी महक फैलती जा रही थी । वह धीरे से बोला, “लाओ ।”

चन्दा ने कड़ा उसकी ओर बढ़ा दिया । कड़ा हाथ में लेकर वह बोला, “सुनो ।”

चन्दा ने प्रश्न-भरी नज़रें उसकी ओर उठा दीं ।

उनमें झँकते हुए, पर अपने हाथ से उसकी कलाई पकड़ते हुए उसने वह कड़ा उसकी कलाई में गहना दिया और बोला, “ब्याही औरतें हमेशा मेरी कमज़ोरी रही हैं, चन्दा !”

चन्दा चुपचाप कोठरी की ओर चल दी और बचनसिंह दवाखाने की ओर । कालिख बुरी तरह बढ़ गयी थी और सामने खड़े पेड़

की काली परछाईं गहरी पड़ गयी थी। दोनों लौट गये थे। पर जैसे उस कालिख में कुछ रह गया था, छूट गया था। दवाखाने का लैम्प जो जलते-जलते एक बार भभका था, उसमें तेल न रह जाने के कारण बत्ती की लौ बीच से फट गयी थी, उसके ऊपर धुएँ की लकीरें बलखाती, साँप की तरह अँधेरे में विलीन हो जाती थीं।

सुबह जब चन्दा जगपती के पास पहुँची और बिस्तर ठीक करने लगी, तो जगपती को लगा कि चन्दा बहुत उदास थी। क्षण-क्षण में चन्दा के मुख पर अनगिनत भाव आ-जा रहे थे, जिनमें असमंजस था, पीड़ा थी और निरोहता। कोई अदृश्य पाप कर चुकने के बाद हृदय की गहराई से किये गये पश्चाताप जैसी धूमिल चमक !....

“रानी मंत्री के साथ जब निराश होकर लौटी, तो देखा, राजा महल में उपस्थित थे। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।” माँ सुनाया करती थीं, “पर राजा को रानी का इस तरह मंत्री के साथ जाना अच्छा नहीं लगा। रानी ने राजा को समझाया कि वह तो केवल राजा के प्रति अटूट प्रेम के कारण अपने को न रोक सकी। राजा रानी एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। पर दोनों के दिलों में एक बात शूल-सी गड़ती रहती कि उनके कोई सन्तान न थी....राजवंश का दीपक बुझने जा रहा था। सन्तान के अभाव में उनका लोक-परलोक बिगड़ा जा रहा था और कुल की मर्यादा नष्ट होने को शंका बढ़ती जा रही थी।....”

दूसरे दिन बचनसिंह ने मरीजों की मलहम-पट्टी करते वक्त बताया था कि उसका तबादला मैनपुरी के सदर अस्पताल में हो गया है और वह परसी यहाँ से चला जायगा। जगपती ने सुना, तो उसे भला ही लगा।....आये दिन रोग घेरे रहते हैं, बचनसिंह उसके शहर के

अस्पताल में पहुँचा जा रहा है, तो कुछ मदद मिलती ही रहेगी। आखिर वह ठीक तो होगा ही और फिर मैनपुरी के सिवा कहाँ जायगा ! पर दूसरे ही क्षण उसका दिल अकथ भारीपन से भर गया। पता नहीं, क्यों चन्दा के अस्तित्व का ध्यान आते ही उसे इस सूचना में कुछ ऐसे नुकीले काँटे दिखायो देने लगे, जो उसके शरीर में किसी भी समय चुभ सकते थे, ज़रा-सा बेखबर होने पर बीध सकते थे। और तब उसके सामने आदमी के अधिकार की लक्ष्मण-रेखाएँ धुँएँ की लकीर की तरह काँपकर मिटने लगीं और मन में छुपे संदेह के राक्षस बाना बदल योगी के रूप में घूमने लगे।

और पन्द्रह-बीस रोज़ बाद जब जगपती की हालत सुधर गयो, तो चन्दा उसे लेकर घर लौट आयी। जगपती चलने-फिरने लायक हो गया था। घर का ताला जब खोला, तब रात झुक आयी थी। और फिर उनकी गली में तो शाम से ही अँधेरा भरना शुरू हो जाता था। पर गली में आते ही उन्हें लगा, जैसे कि बनवास काटकर राजधानी लौटे हों। नुक्कड़ पर ही जमना सुनार की कोठरी में सुरही फिक रही थी, जिसके दराज़दार दरवाज़ों से लालटेन की रोशनी की लकीर झँक रही थी और कच्ची तम्बाकू का धुआँ रँधी गली के मुहाने पर बुरी तरह भर गया था। सामने ही मुंशीजी अपनी जिंगला खटिया के गड्ढे में, कुप्पी के मद्धिम प्रकाश में खसरा-खतौनी बिछाये मीज़ान लगाने में मशगूल थे। जब जगपती के घर का दरवाज़ा खड़का, तो अँधेरे में उसकी चाची ने अपने जंगले से देखा और वहीं से बंठ-बैठे अपने घर के भीतर ऐलान कर दिया—“राजा निरबंसिया अस्पताल से लौट आये....कुलमा भी आर्या हैं।”

ये शब्द सुनकर घर के अँधेरे बरोठे में घुसते ही जगपती हॉफकर बैठ गया, झुँझलाकर चन्दा से बांला, “अँधेरे में क्या मरे हाथ-पैर तुड़वाओगी, भीतर जाकर लालटेन जला लाओ न।”

“तेल नहीं होगा, इस वक्त ज़रा ऐसे ही काम....”

“तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा....न तेल न....” कहते-कहते जगपती एकदम चुप रह गया। और चन्दा को लगा कि आज पहली बार जगपती ने उसके व्यर्थ मातृत्व पर इतनी गहरी चोट कर दी, जिसकी गहराई की उसने कभी कल्पना नहीं की थी। दोनों खामोश, बिना एक बात किये अन्दर चले गये।

रात के बढ़ते सन्नाटे में दोनों के सामने दो बातें थीं....

जगपती के कानों में जैसे कोई व्यंग्य से कह रहा था—राजा निरबंसिया अस्पताल से आ गये !

और चन्दा के दिल में वह बात चुभ रही थी—तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा....

और सिसकती-सिसकती चन्दा न जाने कब सो गयी। पर जगपती की आँखों में नींद न आयी। खाट पर पड़े-पड़े उसके चारों ओर एक मोहक, भयावना-सा जाल फैल गया। लेटे-लेटे उसे लगा, जैसे उसका स्वयं का आकार बहुत क्षीण होता-होता बिन्दु-सा रह गया, पर बिन्दु के हाथ थे, पैर थे और दिल की धड़कन भी। कोठरी का घुटा घुटा-सा अंधियारा, मटमैली दीवारें और गहन गुफाओं-सी अलमारियाँ, जिनमें से बार-बार कोई भौंककर देखता था....और वह सिहर उठता था.... फिर जैसे सब कुछ तबदील हो गया हो।....उसे लगा कि उसका आकार बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है। वह मनुष्य हुआ, लम्बा-तगड़ा तन्दुस्त पुरुष हुआ, उसकी शिराओं में कुछ फूट पड़ने के लिए व्याकुलता से खौल उठा। उसके हाथ शरीर के अनुपात से बहुत बड़े, डरावने और भयानक हो गये, उनमें लम्बे-लम्बे नाखून निकल आये ...वह राक्षस हुआ, दैत्य हुआ....आदिम बर्बर !

और बड़ी तेज़ी से सारा कमरा एकबारगी चक्कर काट गया।

....फिर सब धीरे-धीरे स्थिर होने लगा और उसकी साँसें ठीक होती जान पड़ीं। फिर जैसे बहुत कोशिश करने पर धिग्धी बँध जाने के बाद उसकी आवाज़, फूटी, “चन्दा !”

चन्दा की नरम साँसों की हल्की सरसराहट कमरे में जान डालने लगी। जगपती अपनी पाटी का सहारा लेकर झुका। काँपते पैर उसने ज़मीन पर रखे और चन्दा की खाट के पाये से सिर टिकाकर बैठ गया। उसे लगा, जैसे चन्दा की इन साँसों की आवाज़ में जीवन का संगीत गूँज रहा है। वह उठा और चन्दा के मुख पर झुक गया।....उस अँधेरे में आँखें गड़ाये-गड़ाये जैसे बहुत देर बाद स्वयं चन्दा के मुख पर आभा फूटकर अपने आप बिखरने लगी....उसके नक़्श उज्ज्वल हो उठे और जगपती की आँखों को ज्योति मिल गयी। वह मुग्ध-सा ताकता रहा।

चन्दा के बिखरे बाल, जिनमें हाल के जन्मे बच्चे के गबुआरे बालों की-सी महक....दूध की कचआँइध....शरीर के रस की-सी मिठास और स्नेह-सी चिकनाहट और वह माथा जिसपर बालों के पास तमाम छोटे छोटे, नरम-नरम-से रोएँ....रेशम-से....और उसपर कभी लगायी गयी सेंदुर की बिन्दी का हल्का मिटा हुआ-सा आभास....नन्हें-नन्हें निर्द्वन्द सोये पलक ! और उनकी मासूम-सी काँटों की तरह बरौनियाँ और साँस में घुलकर आती हुई वह आत्मा की निष्कपट आवाज़ की लय....फूल की पँखुरी से पतले-पतले ओंठ, उनपर पड़ी अछूती रेखाएँ, जिनमें सिर्फ़ दूध-सी महक !

उसकी आँखों के सामने ममता-सी छा गयी, केवल ममता, और उसके मुख से अस्फुट शब्द निकल गया, ‘बच्ची !’

डरते-डरते उसके बालों की एक लट को बड़े जतन से उसने हथेली पर रखा और उँगली से उसपर जैसे लकीरें खींचने लगा। उसे लगा, जैसे कोई शिशु उसके अंक में आने के लिए छुटपटा कर निराश

होकर सो गया हो। उसने दोनों हथेलियों को पसारकर उसके सर को अपनी सीमा में भर लेना चाहा कि कोई कठोर चीज़ उसकी उँगलियों से टकरायी।

वह जैसे होश में आया।

बड़े सहारे से उसने चन्दा के सिर के नीचे टटोला। एक रूमाल में बँधा कुछ उसके हाथ में आ गया। अपने को संयत करता वह वहीं ज़मीन पर बैठ गया, उसी अँधेरे में उस रूमाल को खोला, तो जैसे सॉप सूँघ गया, चन्दा के हाथ के दोनों सोने के कड़े उसमें लिपटे थे!

और तब उसके सामने सब सृष्टि धीरे धीरे टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरने लगी। ये कड़े तो चन्दा बेचकर उसका इलाज कर रही थी। वे सब दवाइयाँ और ताक़त के टॉनिक....उसने तो कहा था, ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ के कड़े बेचने को दे दिये थे....पर....उसका गला बुरी तरह सूख गया। ज़बान जैसे तालू से चिपककर रह गयी। उसने चाहा कि चन्दा को झकझोरकर उठाये, पर शरीर की शक्ति बह-सी गयी थी, रक्त पानी हो गया था।

थोड़ा संयत हुआ, उसने वह कड़े उसी रूमाल में लपेटकर उसकी खाट के कोने पर रख दिये और बड़ी मुश्किल से अपनी खाट की पाटी पकड़कर लुढ़क गया।

चन्दा झूठ बोली! पर क्यों? कड़े आज तक छुपाये रही। उसने इतना बड़ा दुराव क्यों किया? आखिर क्यों? किसलिए? और जगपती का दिल भारी हो आया। उसे फिर लगा कि उसका शरीर सिमटता जा रहा है और वह एक सीक का बना ढाँचा रह गया.... नितान्त हल्का, तिनके-सा, हवा में उड़कर भटकनेवाले तिनके-सा।

उस रात के बाद रोज़ जगपती सोचता रहा कि चन्दा से कड़े माँगकर बेंच ले और कोई छोटा-मोटा कारबार ही शुरू कर दे, क्योंकि

नौकरी छूट चुकी थी। इतने दिन की गैरहाज़िरी के बाद वकील साहब ने दूसरा मुहर्रिर रख लिया था। वह रोज़ यही सोचता। पर जब चन्दा सामने आती, तो न जाने कैसी असहाय-सी उसकी अवस्था हो जाती। उसे लगता, जैसे कड़े माँगकर वह चन्दा से पत्नीत्व का पद भी छीन लेगा। मातृत्व तो भगवान ने छीन ही लिया....वह सोचता, आखिर चन्दा क्या रह जायगी? एक स्त्री से यदि पत्नीत्व और मातृत्व छीन लिया गया, तो उसके जीवन की सार्थकता ही क्या? चन्दा के साथ वह यह अन्याय कैसे करे? उससे दूसरी आँख की रोशनी कैसे माँग ले? फिर तो वह नितान्त अन्धी हो जायगी। और उन कड़ों को माँगने के पीछे जिस इतिहास की आत्मा नंगी हो जायगी, कैसे वह उस लज्जा को स्वयं ही उधार कर ढाँपेगा?

और वह इन्हीं खयालों में डूबा सुबह से शाम तक इधर-उधर काम की टोह में घूमता रहता। किसी से उधार ले ले? पर किस सम्पत्ति पर? क्या है उसके पास, जिसके आधार पर कोई उसे कुछ देगा? और मुहल्ले के लोग....जो एक-एक पाई पर जान देते हैं, कोई चीज खरीदते वक्त भाव में एक पैसा कम मिलने पर मीलों पैदल जाकर एक पैसा बचाते हैं। एक-एक पैसे की मसाले की पुड़िया बँधवाकर ग्यारह मर्तबा पैसों का हिसाब जोड़ कर एक-आध पैसा उधार कर, मिन्नतें करते सौदा घर लाते हैं। गली में कोई खोंचेवाला पँस गया, तो दो पैसे की चीज़ को लड़-झगड़कर—चार दाने ज़्यादा पाने की नीयत से—दो जगह बँधवाते हैं। भाव के ज़रा से फ़र्क़ पर घंटों बहस करते हैं। शाम को सड़ी-गली तरकारियों को किफ़ायत के कारण खाते हैं, ऐसे लोगों से किस मुँह से माँगकर वह उनकी ग़रीबी के अहसास पर ठोकर लगाये!

पर उस दिन शाम को जब वह घर पहुँचा, तो बरोठे में ही एक साइकिल रखी नज़र आयी। दिमाग़ पर बहुत ज़ोर डालने के बाद भी

वह आगन्तुक की कल्पना न कर पाया। भीतरवाले दरवाज़े पर जब पहुँचा, तो सहसा हँसी की आवाज़ सुनकर ठिठक गया। उस हँसी में एक अजीब-सा उन्माद था। और उसके बाद चन्दा का स्वर—

“अब आते ही होंगे, बैठिए न दो मिनट और !....अपनी आँख से देख लीजिए और उन्हें समझाते जाइए कि अभी तन्दुरुस्ती इस लायक नहीं, जो दिन-दिन भर घूमना बर्दाश्त कर सकें।”

“हाँ....भई, कमज़ोरी इतनी जल्दी नहीं मिट सकती, ख़याल नहीं करेंगे, तो नुकसान उठायेंगे !” कोई पुरुष स्वर था यह।

जगपती असमंजस में पड़ गया। वह एकदम भीतर घुस जाय ! इसमें क्या हर्ज है ! पर जब उसने पैर उठाये, तो वे बाहर को जा रहे थे। बाहर बरोठे में साइकिल को पकड़ते ही उसे सूझ आयी, वहीं से जैसे अनजान बनता बड़े प्रयत्न से आवाज़ को खोलता चिल्लाया। “अरे चन्दा ! यह साइकिल किसकी है ! कौन मेहरबान....”

चन्दा उसकी आवाज़ सुनकर कमरे से बाहर निकलकर जैसे खुशख़बरी सुना रही थी, “अपने कम्पाउन्डर साहब आये हैं, खोजते खोजते आज घर का पता पाये हैं, तुम्हारे इन्तज़ार में बैठे हैं !”

“कौन बचनसिंह !....अच्छा....अच्छा। वही तो मैं कहूँ, भला कौन....” कहता जगपती पास पहुँचा। और बातों में इस तरह उलझ गया, जैसे सारी परिस्थिति उसने स्वीकार कर ली हो।

बचनसिंह जब फिर आने की बात कहकर चला गया, तो चन्दा ने बहुत अपनेपन से जगपती के सामने बात शुरू की, “जाने कैसे कैसे आदमी होते हैं....”

“क्यों, क्या हुआ ! कैसे होते हैं आदमी !” जगपती ने पूछा।

“इतनी छोटी जान-पहचान में तुम मर्दों के घर में न रहते घुसकर बैठ सकतै हो ! तुम तो उल्टे पैरों लौट आओगे।” चन्दा कहकर

जगपती के मुख पर कुछ इच्छित प्रतिक्रिया देख सकने के लिए गहरी निगाहों से ताकने लगी ।

जगपती ने चन्दा की ओर ऐसे देखा, जैसे यह बात भी कहने की या पूछने की है ! फिर बोला, “बचनसिंह अपनी तरह का आदमी है, अपनी तरह का अकेला....”

“होगा....पर....” कहते-कहते चन्दा रुक गयी ।

“आड़े वक्त काम आनेवाला आदमी है, लेकिन उससे फायदा उठा सकना जितना आसान है....उतना....मेरा मतलब है कि....जिससे कुछ लिया जायगा, उसे दिया भी तो जायगा ।” जगपती ने आँखें बीवार पर गड़ाते हुए कहा ।

और चन्दा उठकर चली गयी ।

उस दिन के बाद बचनसिंह लगभग रोज़ ही आने-जाने लगा । जगपती उसके साथ इधर-उधर घूमता भी रहता । बचनसिंह के साथ वह जब तक रहता, अजीब-सी घुटन उसके दिल को बाँध लेती, और तभी जीवन की तमाम विषमताएँ भी उसकी निगाहों के सामने उभरने लगतीं, आखिर वह स्वयं एक आदमी है....बेकार....यह माना कि उसके सामने पेट पालने की कोई इतनी विकराल समस्या नहीं, वह भूखों नहीं मर रहा है, जाड़े में काँप नहीं रहा है, पर उसके दो हाथ-पैर हैं....शरीर का पिंजरा है जो कुछ माँगता है....कुछ ! और वह सोचता, यह कुछ क्या है ? सुख ? शायद हों, शायद नहीं । वह तो दुःख में भी जी सकने का आदी है, अभावों में जीवित रह सकनेवाला आश्चर्यजनक कीड़ा है । तो फिर....वासना ? शायद हों, शायद नहीं । चन्दा का शरीर लेकर उसने उस क्षणिकता को भी देखा है । तो फिर धन !....शायद हों, शायद नहीं । उसने धन के लिए अपने को खपाया है। पर वह भी तो उस अदृश्य प्यास को बुझा नहीं पाया ।

तो फिर ?....तो फिर क्या !.. वह कुछ क्या है, जो उसकी आत्मा में नासूर-सा रिसता रहता है, अपना उपचार माँगता है ? शायद काम ! हाँ, यही, बिल्कुल यही, जो उसके जीवन की घड़ियों को निपट सूना न छोड़े, जिसमें वह अपनी शक्ति लगा सके, अपना मन डुबो सके, अपने को सार्थक अनुभव कर सके, चाहे उसमें सुख हो या दुःख, अरक्षा हो या सुरक्षा, शोषण हो या पोषण....उसे सिर्फ काम चाहिए ! करने के लिए कुछ चाहिए । यही तो उसकी प्रकृत आवश्यकता है, पहली और आखिरी माँग है, क्योंकि वह उस घर में नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ ज़बान हिलाकर शासन करनेवाले होते हैं। वह उस घर में भी नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ माँगकर जीनेवाले होते हैं । वह उस घर का है, जो सिर्फ काम करना जानता है, काम ही जिसकी आस है । सिर्फ वह काम चाहता है, काम !....

और एक दिन उसकी काम-धाम की समस्या भी हल हो गयी । तालाबवाले ऊँचे मैदान के दक्षिण ओर जगप्ती की लकड़ी की टाल खुल गयी । तक टँग गया । टाल की ज़मीन पर लक्ष्मी-पूजन भी हो गया और हवन भी हुआ । लकड़ी की कोई कमी नहीं थी । गाँवों से आनेवाली गाड़ियों का, इस कारबार में पैरे हुए आदमियों की मदद से मोल-तोल करवा के वहाँ गिरवा दिया गया । गाँठें एक ओर रखी गयीं, चैलों का चट्टा करीने से लग गया और गुद्दे चीरने के लिए डाल दिये गये । दो-तीन गाड़ियों का सौदा करके टाल चालू कर दी गयी । भविष्य में स्वयं पेड़ ख़रीदकर कटाने का तय किया गया । बड़ी-बड़ी स्कीमें बनी कि किस तरह जलाने की लकड़ी से बढ़ाते-बढ़ाते एक दिन इमारती लकड़ी की कोठी बनेगी । चीरने की नयी मशीन लगेगी । कारबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी में लग जायगा । और उसने महसूस किया कि वह काम में लग गया है, अब चौबीसों घंटे उसके सामने काम है....उसके समय का उपयोग है । दिन

भर में वह एक घंटे के लिए किसी का मित्र हो सकता है, कुछ देर के लिए वह पति हो सकता है, पर बाकी समय ? दिन और रात के बाकी घंटे....उन घंटों के अभाव को सिर्फ उसका अपना काम ही भर सकता है....और अब वह कामदार था....

वह कामदार तो था, लेकिन जब टाल की उस ऊँची ज़मीन पर पड़े छप्पर के नीचे तख़्त पर वह गल्ला रखकर बैठता, सामने लगे लकड़ियों के ढेर, कटे हुए पेड़ के तने, जड़ों को लुढ़का हुआ देखता, तो एक निरीहता बरबस उसके दिल को बाँधने लगती । उसे लगता, एक व्यर्थ पिशाच का शरीर टुकड़े-टुकड़े करके उसके सामने डाल दिया गया है ।....फिर इन पर और कुल्हाड़ी चलेगी और इनके रेशे-रेशे अलग हो जायेंगे और तब इनकी ठठरियों को सुखाकर किसी पैसेवाले के हाथ तक पर तौलकर बेच दिया जायगा ।

और तब उसकी निगाहें सामने खड़े ताड़ पर अटक जातीं, जिसके बड़े-बड़े पत्तों पर सुख्ख गर्दनवाले गिद्ध पर फड़फड़ाकर देर तक खामोश बैठे रहते । ताड़ का काला गड़रेदार तना....और उसके सामने ठहरी हुई वायु में निस्सहाय काँपती, भारहीन नीम की पत्तियाँ चकराती झड़ती रहती....धूल-भरी धरती पर लकड़ी को गाड़ियों के पहियों की पड़ी हुई लीक धुँधली-सी चमक उठती और बगलवाले मूँगफली के पेंच की एकरस खरखराती आवाज़ कानों में भरने लगती । बगलवाली कच्ची पगडंडी से कोई गुज़रकर, टीले के ढलान से तालाब की नीचाई में उतर जाता, जिसके गँदले पानी में कूड़ा तैरता रहता और सुन्नर कीचड़ में मुँह डालकर उस कूड़े को रौंदते रहते....

दोपहर सिमटती और शाम की धुंध छाने लगती, तो वह लालटेन जलाकर छप्पर के खंभे की कील में टॉग देता और उसके थोड़ी ही

देर बाद अस्पतालवाली सड़क से बचनसिंह एक काले धब्बे की तरह आता दिखायी पड़ता ।

गहरे पड़ते अँधेरे में उसका आकार धीरे-धीरे बढ़ता जाता और जगपती के सामने जब वह आकर खड़ा होता, तो वह उसे बहुत विशाल-सा लगने लगता, जिसके सामने उसे अपना अस्तित्व डूबता महसूस होता ।

एक-आध बिक्री की बातें होतीं और तब दोनों घर की ओर चल देते । घर पहुँचकर बचनसिंह कुछ देर ज़रूर रुकता, बैठता, इधर-उधर की बातें करता । कभी मौका पड़ जाता, तो जगपती और बचनसिंह की थाली भी साथ लग जाती । चन्दा सामने बैठकर दोनों को खिलाती ।

बचनसिंह बोलता जाता, “क्या तरकारी बनी है ! मसाला ऐसा पड़ा है कि उसकी भी बहार है और तरकारी का सवाद भी नहीं मरा। होटलों में या तो मसाला-ही-मसाला रहेगा या सिर्फ तरकारी-ही-तरकारी । वाह ! वाह ! क्या बात है अन्दाज़ की !”

और चन्दा बीच-बीच में टोक कर बोलती जाती, “इन्हें तो जब तक दाल में प्याज़ का भुना घी न मिले, तब तक पेट ही नहीं भरता ।”

या—“सिरका अगर इन्हें मिल जाय, तो समझो, सब-कुछ मिल गया । पहले मुझे सिरका न जाने कैसा लगता था, पर अब ऐसा जबान पर चढ़ा है कि....”

या—“इन्हें कागज़-सी पतली रोटी पसन्द ही नहीं आती । अब मुझसे कोई पतली रोटी बनाने को कहे, तो बनती ही नहीं, आदत पड़ गयी है, और फिर मन ही नहीं करता....”

पर चन्दा की आँखें बचनसिंह की थाली पर ही जमी रहतीं । रोटी निबटती, तो रोटी परोस दी, दाल खत्म नहीं हुई, तो भी एक चमचा और परोस दी ।

और जगपती सिर भुकाये खाता रहता । सिर्फ़ एक गिलास पानी माँगता और चन्दा चौककर पानी देने से पहले कहती, “अरे, तुमने तो कुछ लिप्ता भी नहीं ।” कहते-कहते वह पानी दे देती और तब उसके दिल पर गहरी-सी चोट लगती, न जाने क्यों वह खामोशी की चोट उसे बड़ी पीड़ा दे जाती....पर वह अपने को समझा लेती, कोई मेहमान तो नहीं हैं....माँग सकते थे । भूख नहीं होगी ।

जगपती खाना खाकर टाल पर लेटने चला जाता, क्योंकि अभी तक कोई चौकीदार नहीं मिला था । छप्पर के नीचे तख़्त पर जब वह लेटता, तो अनायास ही उसका दिल भर-भर आता । पता नहीं, कौन-कौन-से दर्द एक-दूसरे से मिलकर तरह-तरह की टीस, चटख और ऐंठन पैदा करने लगते । कोई एक रग दुखती तो वह सहलाता भी, जब सभी नसें चटखती हों तो कहाँ-कहाँ राहत का अकेला हाथ सहलाये !

लेटे-लेटे उसकी निगाह ताड़ के उस ओर बनी पुस्ता कब्र पर जम जाती, जिसके सिरहाने कँटीला बबूल का एकाकी पेड़ सुन्न-सा खड़ा रहता । जिस कब्र पर एक पर्दानशीन औरत बड़े लिहाज़ से आकर सबेरे-सबेरे बेला और चमेली के फूल चढ़ा जाती....घूम-घूमकर उसके फेरे लेती और माथा टेककर कुछ कदम उदास-उदास-सी चलकर एकदम तेज़ी से मुड़कर बिसातियों के मुहल्ले में खो जाती । शाम होते फिर आती । एक दिया बारती और अगर की बत्तियाँ जलाती । फिर मुड़ते हुए ओढ़नी का पल्ला कन्धों पर डालती, तो दिये की लौ काँपती, कभी काँपकर बुझ जाती, पर उसके कदम बढ़ चुके होते, पहले धीमे, थके, उदास-से और फिर तेज़, सधे, सामान्य से । और वह फिर उसी मुहल्ले में खो जाती और तब रात की तनहाइयों में....बबूल के काँटों के बीच, उस साँय-साँय करते ऊँचे-नीचे मैदान में जैसे उस कब्र से कोई रूह निकलकर निपट अकेली भटकती रहती ।....

तभी ताड़ पर बैठे सुख्ख गर्दनवाले गिद्ध मनहूस-सी आवाज़ में किलबिला उठते और ताड़ के पत्ते भयानकता से खड़बड़ा उठते। जगपती का बदन काँप जाता और वह भटकती रूह ज़िन्दा रह सकने के लिए जैसे कब्र की ईंटों में, बबूल के साया-तले दुबक जाती। जगपती अपनी टाँगों को पेट से भींचकर, कम्बल से मुँह छुपा आँधा लेट जाता।

तड़के ही ठेके पर लगे लकड़हारे लकड़ी चीरने आ जाते। तब जगपती कम्बल लपेट, घर की ओर चला जाता....

“राजा रोज़ सबेरे टहलने जाते थे,” माँ सुनाया करती थीं, “एक दिन जैसे ही महल के बाहर निकलकर आये कि सड़क पर झाड़ू लगानेवाली मेहतरानी उन्हें देखते ही अपना झाड़ू-पंजा पटककर माथा पीटने लगी, और कहने लगी, ‘हाय राम ! आज राजा निरबंसिया का मुँह देखा है, न जाने रोटी भी नसीब होगी कि नहीं....न जाने कौन सी बिपत टूट पड़े !’ राजा को इतना दुःख हुआ कि उल्टे पैरों महल को लौट गये। मंत्री को हुकुम दिया कि उस मेहतरानी का घर नाज से भर दें। और सब राजसी वस्त्र उतार, राजा उसी क्षण जंगल की ओर चले गये। उसी रात रानी को सपना हुआ कि कल की रात तेरी मनोकामना पूरी करनेवाली है। रानी बहुत पछुता रही थी। पर फ़ौरन ही रानी राजा को खोजती-खोजती उस सराय में पहुँच गयी, जहाँ वह टिके हुए थे। रानी भेष बदलकर सेवा करनेवाली भठियारिन बनकर राजा के पास रात में पहुँची। रात भर उनके साथ रही और सुबह राजा के जागने से पहले सराय छोड़ महल में लौट गयी। राजा सुबह उठकर दूसरे देश की ओर चले गये। दो ही दिनों में राजा के निकल जाने की खबर राज-भर में फैल गयी, राजा निकल गये, चारों तरफ़ यही खबर थी....”

और उस दिन टोले-मुहल्ले के हर आँगन में बरसात के मेह की तरह यह ख़बर बरस कर फैल गयी कि चन्दा के बाल-बच्चा होनेवाला है ।

नुक्कड़ पर जमुना सुनार की कोठरी में फिकती सुरही रुक गयी । मुंशीजी ने अपना मीज़ान लगाना छोड़ विस्फारित नेत्रों से ताककर ख़बर सुनी । बंसी किरानेवाले ने कुएँ में से आधी गयी रस्सी खींच, डोल मन पर पटककर सुना । सुदर्शन दर्ज़ी ने मशीन के पहिए को हथेली से रगड़कर रोककर सुना । हंसराज पंजाबी ने अपनी नील लगी मलगुजी कमीज़ की आस्तीनें चढ़ाते हुए सुना । और जगपती की बेवा चाची ने औरतों के जमघट में बड़े विश्वास, पर भेद-भरे स्वर में सुनाया — “आज छः साल हो गये शादी को....न बाल, न बच्चा....न जाने किसका पाप है उसके पेट में !....और किसका होगा सिवा उस मुसटराडे कम्प्युटर के ! न जाने कहाँ से कुलच्छनी इस मुहल्ले में आ गयी !....इस गली की तो पुश्तों से ऐसी मरजाद रही है कि ग़ैर मर्द औरत की परछाई तक नहीं देख पाये । यहाँ के मरद तो बस अपने घर की औरतों को जानते हैं, उन्हें तो पड़ोसी के घर की ज़नानों की गिनती तक नहीं मालूम !” यह कहते-कहते उनका चेहरा तमतमा आया और सब औरतें देवलोक की देवियों की तरह गम्भीर बनी, अपनी पवित्रता की महानता के बोझ से दबी धीरे-धीरे खिसक गयीं ।

सुबह यह ख़बर फैलने से पहले जगपती टाल पर चला गया था । पर सुनी उसने भी आज ही थी । दिन भर वह तख़्त पर काने की ओर मुँह किये पड़ा रहा । न ठेके की लकड़ियाँ चिरवायीं न बिक्री की ओर ध्यान दिया, न दोपहर का खाना खाने ही घर गया । जब रात अच्छी तरह फैल गयी, तो वह एक हिंसक पशु की भाँति उठा । उसने अपनी अँगुलियाँ चटकायीं, मुट्ठी बाँधकर बाँह का जोर देखा,

तो नसैं तनीं और बाँह में कठोर कम्पन-सा हुआ । उसने तीन-चार पूरी साँसें खींचीं और मजबूत कदमों से घर की ओर चल पड़ा । मैदान खत्म हुआ....कंकड़ की सड़क आयी....सड़क खत्म हुई, गली आयी । पर गली के अँधेरे में घुसते वह सहम गया, जैसे किसी ने अदृश्य हाथों से उसे पकड़कर सारा रक्त निचोड़ लिया, उसकी फटी हुई शक्ति की नस पर हिम-शीतल ओंठ रखकर सारा रस चूस लिया । और गली के अँधेरे की हिकारत-भरी कालिख और भी भारी हो गयी, जिसमें घुसने से उसकी साँस रुक जायगी....बुट जायगी ।

वह पीछे मुड़ा, पर रुक गया । फिर कुछ संयत होकर वह चोरोँ की तरह निशब्द कदमों से किसी तरह घर की भीतरी देहरी तक पहुँच गया ।

दायीं ओर की रसोईवाली दहलीज़ में कुप्पी टिमटिमा रही थी और चन्दा अस्त-व्यस्त-सी दीवार से सिर टेके शायद आसमान निहारते-निहारते सो गयी थी । कुप्पी का प्रकाश उसके आधे चेहरे को उजागर किये था और आधा चेहरा गहन कालिमा में डूबा अदृश्य था ।

वह खामोशी से खड़ा ताकता रहा । चन्दा के चेहरे पर नारीत्व की प्रौढ़ता आज उसे दिखायी दी । चेहरे की सारी कमनीयता न जाने कहाँ खो गयी थी, उसका अछूतापन न जाने कहाँ लुप्त हो गया था । फूला-फूला मुख । जैसे टहनी से तोड़े फूल को पानी में डालकर ताज़ा किया गया हो, जिसकी पंखुरियों में टूटन की सुरमई रेखाएँ पड़ गयी हों, पर भीगने से भारीपन आ गया हो ।

उसके खुले पैर पर उसकी निगाह पड़ी, तो सूजा-सा लगा । एड़ियों भरी, सूजी-सी और नाखूनों के पास अजब-सा सूखापन । जगपती का दिल एक बार मसोस उठा । उसने चाहा कि बढ़कर उसे उठा ले ।

अपने हाथों से उसका पूरा शरीर छू-छूकर सारा कलुष पोंछ दे, उसे अपनी साँसों की अग्नि में तपाकर एक बार फिर पवित्र कर ले । और उसकी आँखों की गहराई में भाँककर कहे—देवलोक से किस शापवश निर्वासित हो तुम इधर आ गयीं, चन्दा ? यह शाप तो अमिट था ।

तभी चन्दा ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं । जगपती को सामने देख उसे लगा कि वह एकदम नंगी हो गयी हो । अतिशय लज्जित हो उसने अपने पैर समेट लिये । घुटनों से धोती नीचे सरकायी और बहुत संयत-सी उठकर रसाई के अँधेरे में खो गयी ।

जगपती एकदम हताश हो, वहाँ कमरे की देहरी पर चौखट से सिर टिका बैठ गया । नज़र कमरे में गयी, तो लगा कि पराये स्वर वहाँ गूँज रहे हैं, जिनमें चन्दा का भी एक है । हर तरफ़, घर के हर कोने से, अँधेरा सैलाब की तरह बढ़ता आ रहा था....एक अजीब निस्तब्धता....असमंजस ! गति, पर पथभ्रष्ट ! शकलें, पर आकारहीन ।

“खाना खा लेते,” चन्दा का स्वर कानों में पड़ा । वह अनजाने ऐसे उठ बैठा, जैसे तैयार बैठा हो । उसकी बात की आज तक उसने अवज्ञा न की थी । खाने तो बैठ गया, पर कौर नीचे नहीं सरक रहा था । तभी चन्दा ने बड़े सवे शब्दों में कहा, “कल मैं गाँव जाना चाहती हूँ ।”

जैसे वह इस सूचना से परिचित था, बोला, “अच्छा ।”

चन्दा फिर बोली, “मैंने बहुत पहले घर चिट्ठी डाल दी थी, मैया कल लेने आ रहे हैं ।”

“तो ठीक है,” जगपती वैसे ही झुवा-झुवा बोला ।

चन्दा का बाँध टूट गया और वह वहीं घुटनों में मुँह दबाकर कातर-सी फफक-फफक कर रो पड़ी । न उठ सकी, न हिल सकी ।

जगपती क्षण भर को विचलित हुआ, पर जैसे जम जाने के लिए ।

उसके ओंठ फड़के और क्रोध के ज्वालामुखी को ज़बरन दबाते हुए भी वह फूट पड़ा, “यह सब मुझे क्या दिखा रही है ? बेशर्म ! बेगैरत !....उस वक्त नहीं सोचा था, जब....जब....मेरी लाश तले....”

“तब....तब की बात झूठ है....,” सिसकियों के बीच चन्दा का स्वर फूटा, “लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया....”

एक भरपूर हाथ चन्दा की कनपटी पर आग सुलगाता पड़ा । और जगपती अपनी हथेली दूसरी से दाबता, खाना छोड़ कोठरी में घुस गया । और रात भर कुण्डी चढ़ाये उसी कालिख में घुटता रहा ।

दूसरे दिन चन्दा घर छोड़ अपने गाँव चली गयी ।

जगपती पूरा दिन और रात टाल पर ही काट देता, उसी वीराने में, तालाब के बगल, कब्र, बबूल और ताड़ के पड़ोस में । पर मन मुर्दा हो गया था । ज़बरदस्ती वह अपने को वहीं रोके रहता ।.... उसका दिल होता, कहीं निकल जाय । पर ऐसी कमज़ोरी उसके तन और मन को खोखला कर गयी थी कि चाहने पर भी वह जा न पाता । हिकारत भरी नज़रें सहता, पर वहीं पड़ा रहता । काफ़ी दिनों बाद जब नहीं रहा गया, तो एक दिन जगपती घर पर ताला लगा, नज़दीक के गाँव में लकड़ी कटाने चला गया । उसे लग रहा था कि अब वह पंगु हो गया है, बिल्कुल लँगड़ा, एक रेंगता कीड़ा, जिसके न आँख है, न कान, न मन, न इच्छा ।

वह उस बाग में पहुँच गया, जहाँ खरीदे पेड़ कटने थे । दो आरेवालों ने पतले पेड़ के तने पर आराखा और कर्क-कर्क का अबाध शोर शुरू हो गया । दूसरे पेड़ पर बन्ने और शकूरे की कुल्हाड़ी बज उठी । और गाँव से दूर उस बाग में एक लयपूर्ण शोर शुरू हो गया । जड़ पर कुल्हाड़ी पड़ती, तो पूरा पेड़ थर्रा जाता ।

करीब के खेत की मेड़ पर बैठे जगपती का शरीर भी जैसे कॉप-कॉप उठता। चन्दा ने कहा था, 'लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया....' क्या वह ठीक कहती थी? क्या बचनसिंह ने टाल के लिए जो रुपये दिये थे, उसका ब्याज इधर चुकता हुआ? क्या सिर्फ़ वही रुपये आग बन गये, जिसकी आँच में उसकी सहनशीलता, विश्वास और आदर्श मोम से पिघल गये।

“श....कूरे!” बाग से लगे दड़े पर से किसी ने आवाज़ लगायी। शकूरे ने कुल्हाड़ी रोककर वहीं से हॉक लगायी, “कोने के खेत से लीक बनी है, ज़रा मेड़ मारकर नँधा ला गाड़ी।”

जगपती का ध्यान भंग हुआ। उसने मुड़कर दड़े पर आँखें गड़ायीं। दो भैंसा गाड़ियाँ लकड़ी भरने के लिए आ पहुँची थीं। शकूरे ने जगपती के पास आकर कहा, “एक गाड़ी का भर्त तो हो गया, बल्कि डेढ़ का....अब इस पतरिया पेड़ को न छाँट दें?”

जगपती ने उस पेड़ की ओर देखा, जिसे काटने के लिए शकूरे ने इशारा किया था, पेड़ की शाख हरी पत्तियों से भरी थी। वह बोला, “अरे यह तो हरा है अभी....इसे छोड़ दो।”

“हरा होने से क्या, उखट तो गया है। न फूल का, न फल का। अब कौन इसमें फल-फूल आयेंगे, चार दिन में पत्ती झुरा जायेगी।” शकूरे ने पेड़ की ओर देखते हुए उस्तादी अन्दाज़ से कहा।

“जैसा ठीक समझो तुम,” जगपती ने कहा, और उठकर मेड़-मेड़ पक्के कुएँ पर पानी पीने चला गया।

दोपहर ढलते गाड़ियाँ भरकर तैयार हुईं और शहर की ओर रवाना हो गयीं। जगपती को उनके साथ आना पड़ा। गाड़ियाँ लकड़ी से लदी शहर की ओर चली जा रही थीं और जगपती गर्दन मुकाये कच्ची सड़क की धूल में डूबा, भारी कदमों से धीरे धीरे उन्हीं की बजती घंटियों के साथ निर्जीव-सा बढ़ता जा रहा था....

“कई बरस बाद राजा परदेस से बहुत-सा धन कमा कर गाड़ी में लादकर अपने देश की ओर लौटे,” माँ सुनाया करती थीं, “राजा की गाड़ी का पहिया महल से कुछ दूर पतेल की झाड़ी में उलझ गया। हर तरह कोशिश की, पर पहिया न निकला। तब एक पंडित ने बताया कि ‘सकट’ के दिन का जन्मा बालक अगर अपने घर की सुपारी लाकर इसमें छुआ दे, तो पहिया निकल जायगा। वहीं दो बालक खेल रहे थे। उन्होंने यह सुना तो कूदकर पहुँचे और कहने लगे कि हमारी पैदाइश सकट की है, पर सुपारी तब लायेंगे, जब तुम आधा धन देने का वादा करो। राजा ने बात मान ली। बालक दौड़े दौड़े घर गये। सुपारी लाकर छुआ दी, फिर घर का रास्ता बताते आगे आगे चले। आखिर गाड़ी महल के सामने उन्होंने रोक ली।

राजा को बड़ा अचरज हुआ कि हमारे ही महल में ये बालक कहाँ से आ गये ? भीतर पहुँचे, तो रानी खुशी से बेहाल हो गयी।

पर राजा ने पहले उन बालकों के बारे में पूछा, तो रानी ने कहा कि ये दोनों बालक उन्हीं के राजकुमार हैं। राजा को विश्वास नहीं हुआ। रानी बहुत दुखी हुई।”

गाड़ियाँ जब टाल पर आकर लगीं और जगपती तख्त पर हाथ-पैर ढीले करके बैठ गया, तो पगडंडी से गुज़रते मुंशीजी ने उसके पास आकर बताया, “अभी उस दिन वसूली में तुम्हारी ससुराल के नज़दीक एक गाँव में जाना हुआ, तो पता लगा कि पन्द्रह-बीस दिन हुए चन्दा के लड़का हुआ है।” और फिर जैसे मुहल्ले में सुनी सुनायी बातों पर पर्दा डालते हुए बोले, “भगवान के राज में देर है, अन्धेर नहीं, जगपती भैया !”

जगपती ने सुना तो पहले उसने गहरी नज़रों से मुंशीजी को ताका,

पर वह उनके तीर का निशाना ठीक ठीक नहीं खोज पाया। पर सब कुछ सहन करते हुए बोला, “देर और अन्धेर दोनों हैं !”

“अन्धेर तो सरासर है....तिरिया चरित्तर है सब ! बड़े-बड़े हार गये....,” कहते-कहते मुंशीजी रुक गये, पर कुछ इस तरह, जैसे कोई बड़ी भेद-भरी बात है, जिसे उनकी गोल होती हुई आँखें समझा देंगी।

जगपती मुंशीजी की तरफ ताकता रह गया। मिनट भर मनहूस-सा मौन छाया रहा, उसे तोड़ते हुए मुंशीजी बड़ी दर्द भरी आवाज़ में बोले, “सुन तो लिया होगा तुमने ?”

“क्या ?” कहने को जगपती कह गया, पर उसे लगा कि अभी मुंशीजी उस गाँव में फैली बातों को ही बड़ी बेदर्दी से कह डालेंगे, उसने नाहक पूछा।

तभी मुंशीजी ने उसकी नाक के पास मुँह ले जाते हुए कहा, “चन्दा दूसरे के घर बैठ रही है....कोई मदसूदन है वहीं का। पर बच्चा दीवार बन गया है, चाहते तो वो यही हैं कि मर जाय, तो रास्ता खुले, पर रामजी का मर्जी।....सुना है, बच्चा रहते भी वो चन्दा को बैठाने को तैयार है।”

जगपती की सॉस गले में अटककर रह गयी। वस, आँखें मुंशीजी के चेहरे पर पथरायी-सी जड़ी थीं।

मुंशीजी बोले, “अदालत से बच्चा तुम्हें मिल सकता है।....अब काहे का शरम-लिहाज !”

“अपना कहकर किस मुँह से माँगू, बाबा ? हर तरफ तो कर्ज से दबा हूँ। तन से, मन से, पैसे से, इज्जत से, किसके बल पर दुनिया सँजोने की कोशिश करूँ ?” कहते कहते वह अपने में खो गया।

मुंशीजी वहीं बैठ गये। जब रात झुक आयी, तो जगपती के साथ ही मुंशीजी भी उठे। उसके कन्धे पर हाथ रखे वह उसे गली तक लाये। अपनी कोठरी आने पर पीठ सहलाकर उन्होंने उसे छोड़ दिया।

वह गर्दन झुकाये गली के अँधेरे में उन्हीं खयालों में डूबा ऐसे चलता चला आया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर कुछ ऐसा बोझ था, जो न सोचने देता था और न समझने। जब चाची की बैठक के पास से गुज़रने लगा, तो सहसा उसके कानों में भनक पड़ी—“आ गये सत्यानासी ! कुलबोरन !”

उसने ज़रा नज़र उठाकर देखा, तो गली की चाची-भौजाइयों बैठक में जमा थीं और चन्दा की ही चर्चा छिड़ी थी। पर वह चुपचाप निकल गया।

इतने दिनों बाद ताला खोला और बरोठे के अँधेरे में कुछ सूझ न पड़ा, तो एकाएक वह रात उसकी आँखों के सामने घूम गयी जब वह अस्पताल से चन्दा के साथ लौटा था। बेवा चाची का वह ज़हर-बुझा तीर, ‘आ गये राजा निरबंसिया अस्पताल से।’ और आज सत्यानासी ! कुलबोरन ! और स्वयं उसका वह वाक्य, जो चन्दा को छेद गया था, ‘तुम्हारे कभी कुछ न होगा....!’ और उस रात की शिशु चन्दा !

चन्दा के लड़का हुआ है।...वह कुछ और जनती आदमी का बच्चा न जनती !....वह और कुछ भी जनती, कंकड़ पत्थर ! वह नारी न बनती, बच्ची ही बनी रहती, उस रात की शिशु चन्दा ! पर चन्दा यह सब क्या करने जा रही है ? उसके जीते-जी वह दूसरे के घर बैठने जा रही है ? कितने बड़े पाप में ढकेल दिया चन्दा को....पर उसे भी तो कुछ सोचना चाहिए ! आखिर क्या ? पर मेरे जीते-जी तो यह सब अच्छा नहीं। वह इतनी घृणा बर्दाश्त करके भी जीने को तैयार है ! या मुझे जलाने को ? वह मुझे नीच समझती है, कायर....नहीं तो एक बार ख़बर तो लेती। बच्चा हुआ, तो पता तो लगता। पर नहीं, वह उसका कौन है ? कोई भी नहीं ! औलाद ही तो वह स्नेह की धुरी है, जो आदमी-औरत के पहियों को साधकर तन के

दलदल से पार ले जाती है....नहीं तो हर औरत वेश्या है और हर आदमी वासना का कीड़ा। तो क्या चन्दा....औरत नहीं रही ! वह जरूर औरत थी, पर स्वयं मैंने उसे नरक में डाल दिया ! वह बच्चा मेरा कोई नहीं पर चंदा तो मेरी है। एक बार उसे ले आता फिर यहाँ....रात के मोहक अँधेरे में उसके फूल-से अधरों को देखता.... निर्द्वन्द्व सोये पलकों को निहारता....साँसों की दूध-सी अछूती महक को समेट लेता....

आज का अँधेरा ! घर में तेल भी नहीं, जो दिया जला ले। और फिर किसके लिए कौन जलाये ? चन्दा के लिए....पर उसे तो उसने बेच दिया था। सिवा चन्दा के कौन सी सम्पत्ति उसके पास थी, जिसके आधार पर कोई कर्ज़ देता। कर्ज़ न मिलता, तो यह सब कैसे चलता ? काम....पेड़ कहाँ से कटते ? और तब शकूरे के वे शब्द उसके कानों में गूँज गये, 'हरा होने से क्या, उखट तो गया है....' वह स्वयं भी तो एक उखटा हुआ पेड़ है, न फल का, न फूल का, सब व्यर्थ ही तो है। जो कुछ सोचा, उस पर कभी विश्वास न कर पाया। चन्दा को चाहता रहा, पर उसके दिल में चाहत न जगा पाया। उसे कहीं से एक पैसा माँगने पर डाँटता रहा, पर खुद लेता रहा और आज....वह दूसरे के घर बैठ रही है....उसे छोड़कर....वह अकेला है, ...हर तरफ़ बोझ है, जिसमें उसकी नस नस कुचली जा रही है, रग रग फट गयी है।....और वह किसी तरह टटोल टटोलकर भीतर घर में पहुँचा....

“रानी अपने कुल-देवता के मंदिर में पहुँचीं,” माँ सुनाया करती थीं, “अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने घोर तपस्या की। राजा देखते रहे ! कुल-देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी दैवी

शक्ति से दोनों बालकों को तत्काल-जन्मे शिशुओं में बदल दिया । रानी की छातियों में दूध भर आया और उनमें से धार फूट पड़ी, जो शिशुओं के मुँह में गिरने लगी । राजा को रानी के सतीत्व का सबूत मिल गया । उन्होंने रानी के चरण पकड़ लिये और कहा कि तुम देवी हो ! ये मेरे पुत्र हैं ! और उस दिन से राजा ने फिर से राजकाज सँभाल लिया....”

पर उसी रात जगपती अपना सारा कारबार त्याग, अफ्रीम और तेल पीकर मर गया । क्योंकि चन्दा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं थी और जगपती राजा नहीं, बचनसिंह कम्पाउन्डर का कर्जदार था !....

“राजा ने दो बातें कहीं, माँ सुनाती थीं, “एक तो रानी के नाम से उन्होंने बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया और दूसरे राज के नये सिक्कों पर बड़े राजकुमार का नाम खुदवाकर चालू किया, जिससे राज भर में अगले उत्तराधिकारी की खबर हो जाय.....”

जगपती ने मरते वक्त दो परचे छोड़े, एक चन्दा के नाम, दूसरा कानून के नाम ।

चन्दा को उसने लिखा था—चन्दा, मेरी अंतिम चाह यही है कि तुम बच्चे को लेकर चली आना.....अभी एक-दो दिन मेरी लाश की दुर्गति होगी, तब तक तुम आ सकोगी । चन्दा आदमी को पाप नहीं पश्चाताप मारता है, मैं बहुत पहले मर चुका था । बच्चे को लेकर ज़रूर चली आना ।

कानून को उसने लिखा था—किसी ने मुझे मारा नहीं है.... किसी आदमी ने नहीं । मैं जानता हूँ कि मेरे ज़हर की पहचान करने के लिए मेरा सीना चीरा जायगा । उसमें ज़हर है । मैंने अफीम नहीं,

रुपये खाये हैं, उन रुपयों में कर्ज़ का ज़हर था, उसी ने मुझे मारा है। मेरी लाश तब तक न जलाई जाय, जब तक चन्दा बच्चे को लेकर न आ जाय। आग बच्चे से दिलवायी जाय। बस।

मैं जब कहानी समाप्त करती थीं, को आस-पास बैठे बच्चे फूल चढ़ाते थे। मेरी कहानी भी ख़त्म हो गयी, पर.....

— — —

